इतिहास साक्षी है, बीती ऐतिहासिक रोमैण्टिक घटनाओंका संग्रह है। भाषा तो उपाध्यायजीकी अपनी है ही— तरल, शान्त, गम्भीर, ललित, तूफ़ानी, स्थल-विशेषके अनुकूल सभी प्रकारकी— पर इन घटनाओंमें तो वह मधुर काव्य बन गई है। प्रत्येक घटनामें कोई न कोई रहस्योद्घाटन है, कोई न कोई अद्यतन अज्ञात चमत्कार है। नारीका पहला दर्शन करनेवाला ऋषि शृङ्गी, वीरभूमि, मानभूमि, सिंहभूमिका राजा मानसिंहके नामपर नामकरण करनेवाला बीरबल, सामूगढ़ और बलख़के मोर्चोंका वीरवर औरंगज़ेब, गायक-कवि विद्यापति, तिष्यरक्षिता, सभी ऐतिहासिक साहित्य-की विमल विभूतियाँ बन गए हैं। ऐतिहासिक साहित्य रचनेवालोंके लिए उपाध्यायजीने अपनी इस नवीनतम रचनामें सामग्रीका एक आकर प्रस्तुत कर दिया है। पहली बार, और भाषा तथा भावोंमें अप्रतिम।

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
हिन्दी ग्रन्थाङ्क—११५
BHARATIYA JNANA PITH
इतिहास साक्षी है

इतिहास साक्षी है

भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

श्रीमती रमा जैन को

वक्तव्य

इतिहास साक्षी है और इतिहास साक्षी नहीं है। ये कहानियाँ भी नहीं हैं। अधिकतर घटनाएँ हैं, घटनाएँ इतिहासपर आधारित। कुछ घटनाएँ शुद्ध इतिहासपर आधारित हैं, कुछ इतिहासके आभासपर। इस प्रकार ये ऐतिहासिक साहित्य प्रस्तुत करती हैं, इतिहास नहीं। आशा करता हूँ इससे पाठकोंका मनोरञ्जन होगा। यह भी आशा है कि ये ऐतिहासिक साहित्यका सृजन करनेवाले साहित्यकारोंके लिए कच्ची सामग्री भी प्रस्तुत करेंगी। इनमें-से अनेक 'इतिहास साक्षी है···' के शीर्षकसे 'धर्मयुग'में और 'घटनाएँ जो भुलाई न जा सकीं' शीर्षकसे 'अमृत पत्रिका' तथा 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'में छप चुकी हैं।

काशी
१२।४।६०

—भगवतशरण उपाध्याय

विषय-क्रम

इतिहास साक्षी है

●

नारीका पहला दर्शन

बात पुरानी है, बहुत पुरानी, इतिहाससे भी पुरानी। तबकी, जब दुनिया ही पुराणोंकी थी।

हिमालयकी निचली उपत्यकामें अनेक ऋषि तब आश्रम बना तप-जप किया करते थे। उन्हीं आश्रमोंमें एक तपोवन ऐसे ऋषिका भी था जो यम-नियमोंसे अपने शरीरको असाधारण साध चुके थे। उनका विश्वास सिंह और अजशावक समान रूपसे करते थे; समान रूपसे सभी जीव उनका स्नेह पाते थे। उनके मस्तक और दाढ़ीके केश लम्बे और जटिल थे, नथनोंसे बाल निकलकर हवामें लहराते और जटा तथा श्मश्रुका कुछ ऐसा योग था कि देखनेवालोंकी आँखें बस देखती रह जातीं और महर्षिके तेजके सामने मस्तक अपने आप झुक जाता।

तब अयोध्यामें राजा दशरथ राज करते थे। तीन-तीन रानियोंके रहते भी उन्हें वंशका सुख नसीब न हुआ। बड़े-बड़े यत्न किये गये, वैद्योंने अनेकों प्रकारकी ओषधियाँ दीं, उपचार किये, ऋषि-महर्षियोंने कितने ही मंत्र-जोग, क्रिया-अनुष्ठान किये पर तीनों रानियोंमेंसे एक भी सन्तान प्रदान कर राजाके मनका दुःख न मेट सकी और न अपनी ही गोद भर सकी। राजा जब-जब दूसरोंको पुत्र-स्नेहसे आर्द्र देखता, पुत्रोंको गोदमें लिये पुलकित गात देखता तब-तब उसका आशा-बंध टूट जाता और बोझिल मनसे अपने भाग्यको वह कोसता। सरयूमें जब किसीको पिण्डदान या तिलांजलि करते देखता तब उसे अपने पितरोंकी याद आती, वंशके क्षीण हो जानेकी। स्वयं सूर्यको जलाञ्जलि देते उसकी अंजलि काँप जाती, आँसूकी एकाध बूँद उसमें टपक पड़ती। और सन्ततिके अभावसे संतप्त

राजा मन मारकर कह उठता—"अब पितरोंको मीठे जलकी जगह, लगता है, नेत्रोंका खारा जल ही मिलेगा !"

केवल मनकी तृष्णा ही, संततिका प्यार ही वंशके प्रति राजाके मोहके कारण न थे, कोशलका महाराज्य भी दशरथके बाद स्वामीहीन हुआ चाहता था, इसका भी दुःख राजा-प्रजा दोनोंको कुछ कम न था। पड़ोसी राज्य अयोध्यापर आँख गड़ाये थे और कुछ अजब न था कि राजाके देहावसानके पश्चात् पड़ोसी राजाओंकी अभियानमें आई सेनाएँ अयोध्याकी सीमाओंपर टकरा जातीं। सो दशरथने मन्त्रियोंको बुलाया, गुरुवर वसिष्ठसे मनकी बात कही। तब पुरोहितने सुझाया कि अगर ऐसा कोई व्यक्ति राजाका पुत्रेष्टि यज्ञ कराये, जिसका पापने कभी स्पर्श न किया हो, जो सर्वथा निष्कलुष हो, सभी प्रकारसे पुण्यात्मा—तब कहीं हमारी इच्छा पूरी हो सकती है। पर पाप-पंकमें सने संसारमें ऐसा प्राणी मिल भी कहाँ सकता था जिसे पापने छुआ न हो ?

जब कुकृत्योंके परिणामस्वरूप ही प्राणी मर्त्यलोकमें आता है, जब कुकर्म ही उसे जन्म-मरणके बन्धनमें बाँध देते हैं, जब भवसागर तरनेवालोंका एकमात्र आसरा कर्मों-कुकर्मोंका अभाव है, तब निश्चय इस धरापर जनमनेवाला हर कोई पापके स्पर्शमें उसकी व्यापक परिधिमें है। इससे प्रकट था कि ऐसा कर्मठ महर्षि न मिलेगा जो मुनिके बताये यज्ञका अनुष्ठान कर सके।

शंकित राजाने मुनिसे पूछा—"मुनिवर, ऐसा महाप्राण भला धरापर मिलेगा कहाँ, जिसको पापने स्पर्श न किया हो ?"

त्रिकालदर्शी महर्षिने अपनी व्यापक दृष्टि फैलाई और क्षणभर आँखें मूँद, फिर खोल, कहने लगे—"राजन्, द्वन्द्वोंके इस जगत्‌में दोनों ही पक्ष वर्तमान हैं, निराकारका उत्तर साकार है, पापका पुण्य, मृत्युका अमृत, बन्धका मोक्ष। ऐसा पुरुष भी पृथ्वीपर है, जिसपर पापने कभी अपनी छाया नहीं डाली। मैं जो अपने नेत्र फैलाकर देखता हूँ तो हिमगिरिके

अञ्चलमें ऋष्यशृङ्ग उस दृष्टिपथमें साकार हो उठता है। पिताके तपो-वनमें जन्मसे रहते हुए, नगर-गाँवके प्रभावसे दूर, उस युवा-बालकने साधारण संसारकी वृत्ति नहीं जानी है। उसने नरकके द्वारस्वरूप नारीका स्पर्श तो क्या उसका मुख भी नहीं देखा है। और यदि पृथ्वीपर कोई ऐसा है जो तुम्हारे पुत्रेष्टिका उचित ऋत्विज हो सकता है तो बस वही शृंगी ऋषि है।"

पर जब ऋषिकी स्थिति ऐसी थी कि उसने अपनी युवावस्था तक नारीके दर्शन तक नहीं किये थे तब भला राजधानीमें उसके आनेकी सम्भा-वना ही कहाँ थी? और गुरुने कहा भी कि कठिनाई शृंगीको वहाँसे राजधानीमें लानेकी ही है; क्योंकि उसने कभी अबतक आश्रमसे बाहर पग नहीं डाले हैं और उसके पिता तपोधन ऋषिवर उसपर और आश्रममें आनेवाले महर्षियोंपर सदा वरुणकी-सी दृष्टि रखते हैं। उस तपोवनमें जाते पापकी काया काँपती है, सभी जीव-जन्तु वहाँ जाते अपना औद्धत्य और ईहा आश्रमके बाहर छोड़ जाते हैं। कैसे कार्य सधेगा, यह कहना कठिन है। हाँ, एक ही चीज है, जो शृंगीको इधर ला सकती है—रूपका मोह। पर रूपका मोह तो उसे है नहीं, रूप उसने देखा ही नहीं। फिर भी यदि किसी प्रकार नारी उसके यम-नियमको तोड़ सके तो सम्भवतः हमारा इष्ट सधे। अर्थात्, पुण्यको पापकी छायासे होकर निक-लना होगा, पुण्यपर पाप द्वारा क्षण भर ग्रहण लगाना होगा, तभी अयोध्या-की गद्दी राजन्वती हो सकेगी। किन्तु आगे यह बात सोच मैं काँप उठता हूँ क्योंकि पापकी उत्तेजना अपने उपक्रमसे बाहर है। अब तक मैंने 'धर्म' और 'मोक्ष' ही साधा है, यह 'काम' कोई और ही साधे।

महर्षिकी बात राजाकी समझमें आयी! महर्षि राजसभासे उठकर चले गये, राजाने मन्त्रियोंकी ओर देखा। एकने सुझाया, वारवनिताएँ यदि वहाँ भेजी जायँ और जो वे अपने सारे हाव-भाव, अपनी समूची चेष्टाएँ,

अपनी अशेष विलास-मुद्राएँ विधिवत् वहाँ विकसित करें तो कुछ आश्चर्य नहीं जो तरुण मुनिका मन डोल जाय, जो आस्था डिग जाय।

साम्राज्यके भीतर-बाहरके नगरोंमें सुन्दरसे सुन्दर वेश्याओंकी खोज होने लगी। ऐसी गणिकाएँ, जिनको देख पुण्यको काठ मार जाय, तप सिहर उठे, तब लाकर मन्त्रियोंने अयोध्यामें खड़ी कर दीं। उन्हें देख राजाको लगा कि इष्ट हथेलीमें आ गया है और उसका चित्त गद्गद हो गया।

कर्णीरथोंपर अभिसारकी सारी माया लिये कामकी नायिकाएँ हिमालयकी ओर चलीं, मन्त्रियोंके रथ अनुचर-परिचरोंकी छायामें उनके पीछे चले और एक दिन जब सूर्य भगवान् अस्ताचलके पीछे अपनी कमज़ोर पीली किरणें समेट रहे थे, अयोध्याका वह दल हिमालयकी छायामें जा पहुँचा। महर्षिका तपोवन वहाँसे दूर न था और रातकी चाँदनीमें भी लोगोंने देखा कि वहाँके जीव-जन्तु संयत हैं, कि तपोधन मुनिके तपके ऐश्वर्यसे वहाँके मानव-भिन्न प्राणियों तकके स्वभावमें अन्तर पड़ गया है।

प्रातः जब लोगोंने नेत्र खोले तब देखा वनकी छटा असाधारण है। ऋतुराजका अनुकूल अवसर तो कार्यकी सिद्धिके लिए वैसे भी चुना गया था पर मधुऋतुका जो वैभव उस वनमें था वह भला अयोध्यामें कहाँ गोचर हो सकता था? तरु कुसुमोंसे लदे थे, लताएँ प्रसूनोंसे झूम रही थीं और मकरन्दकी धारासार वर्षासे वातावरण मह-मह कर रहा था। जीवनके आरम्भके जितने साधन जीवधारी खोज सकता है, सृष्टिके आरम्भकी जितनी विभूति मिथुनको चाहिए वह सब वहाँ प्राप्य थी। किन्नरोंके जोड़े गिरि-शिखरके प्रपातपर कुलांच रहे थे, सभीता मृगी प्रिय मृगकी सींगोंसे मर्म खुजला रही थी, कोकिला कोकिलकी चोंचमें चारा डाल पुलकित टेर रही थी। वारांगनाओंने जाना, अवसर समीचीन है और वे रथोंको छोड़, जन-संकुल परिवारको छोड़, श्रोणिभारसे अलसगमना, मदात्ययसे पग-पग-पर स्खलित होतीं, सालस नयनोंको बार-बार घूर्णित करतीं, पञ्च-

सायककी मूर्तिमान सेना-सी बालऋषिकी विजयको चलीं। चराचरकी गति थम गई, पाप और पुण्यका लेखा-जोखा करनेवाला वरुण हाथमें तुला साधे सन्नाटेमें आ चुपचाप तपोधनकी ओर देखने लगा। सृष्टिकी महाविभूतियोंसे शृंगीका मानस बना था। पापको जीतनेवाला वह महर्षि वरुणका अन्यतम गर्व था। उसकी विजय वरुणकी विजय थी, पुण्यकी।

आश्रम शान्त और नीरव था। तप, शम, दम, संयमसे तृष्णाओंका सर्वत्र नियंत्रण किये था। कामकी सेना एक बार सहसा रुक गई, पर अकेले बालऋषिको देख उसने उसपर धावा किया। शृंगीके पिता समिधा लेने गये हुए थे, उनके शीघ्र लौटनेकी कोई सम्भावना न थी, कोई भय न था। पाप अपने भाव-संचरणमें लगा।

लास्यकी मूर्ति गणिकाओंके घुँघरू यकायक बज उठे। मृगोंने वेदिकाओंसे अपने मस्तक ऊपर उठाये और जो देखा तो कुछ ऐसे चकित हुए कि आधे कुचले तृण मुँहसे गिर चले और उन्हें उसका गुमान भी न हुआ। नृत्यकी ध्वनि जो आश्रमके प्रत्यन्तों तक गूँजी तो मृगीसे खेलते शृंगीने भी उधर देखा और बस देखता ही रह गया—विस्मयकी मुद्रामें सिर उठा, विस्मयकी मुद्रामें नेत्रोंकी पुतलियाँ घूम गईं, विस्मयकी मुद्रामें तर्जनी चिबुकपर जा लगी।

सही, बालऋषिने अब तक नारी न देखी थी, न उसकी आकृति, न उसका रूप। और न ही उसने उसका मोहजाल जाना था। देखा और देखता रह गया। वह स्वयं असाधारण पौरुषका धनी था, अव्यय सौन्दर्यकी एकत्रित काया। चौड़े ललाटसे लम्बे केश पीछेको मुड़कर कंधोंपर लटक गये थे, भ्रमर श्याम दीप्तिमान थे। कन्धे शिराव्यंजित थे, भुजाएँ घुटनोंको छूती थीं, वक्षका विस्तार शक्तिकी सीमाएँ खींचता था। वल्कल उस बालरूपपर कसा था और तेज जैसे शरीरको घेरे-घेरे फिरता था। शक्ति और रूप अपनी अप्रत्याशित मण्डनहीन प्राथमिक ताज़गीमें उसका अभिसिंचन

कर रहे थे और अब उसकी विस्मित मुद्रा वारांगनाओंके हियेको बेध चली।

वारांगनाएँ थिरकती हुई उसकी ओर चलीं और बालऋषि विस्मित उनकी ओर बढ़ा। कामका सहचर वसन्त मुसकराया, मदनने पाँचों बाण खींच तपोधनपर मारे। बाण लक्ष्यपर ठीक बैठे। बालऋषि बिंध गया।

थोड़ी देर बाद प्रमदाएँ अपना सौरभ तपोवनको भेंट करतीं, उसपर अपनी तृष्णाओंकी छाया डालती चली गईं। शृंगीके पिता मुनिके लौटनेका समय हो चुका था और उनके आने तक ठहरे रहना विपत्तिसे खाली न था। हृष्टमन वे वहाँ लौटीं जहाँ दशरथके मंत्री अपने परिजनोंके साथ पल-पल उनके लौटनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। लौटकर वारांगनाओंने मंत्रियोंसे विस्तारपूर्वक बालऋषिके पुण्य-प्रताप और उसपर अपनी विजयकी चर्चा की। मंत्रियोंकी आँखोंमें आशाकी कोर चमकी।

उधर वृद्ध तपस्वी जब आश्रम लौटे तो लगा जैसे तपोवनपर अशौच छाया हुआ है, जैसे पाप तपोवनपर कुण्डली मारकर बैठा है। ऋषिकी समझमें न आया कि आचारका भला उस आश्रममें निधन कैसे हो सकता है जहाँ वरुणवत् वे स्वयं यम-नियमोंका संचालन करते थे? पर पापके प्रवेशका आभास उन्हें आश्रमके निवासियोंको देखकर ही मिल गया। मृग अब शान्त न थे, न अजोंके जोड़े ही काम विरत थे, और न आश्रमके कपि ही पवित्र दिखते थे। ऋषिका मन तपोवनमें पापोदयके भयसे काँप उठा।

सीधे शृंगीको खोजते वे उस निकुंजमें पहुँचे जहाँ शीतल शिलापर वह वल्कल फेंके औंधे मुँह पड़ा था। पिताको देखकर भी न तो वह उठा, न उसने नमन किया, न आसन दिया, न बोला। पिता उसके इस अनजाने व्यापारसे चकित-दुःखी हो गये, बोले—"शान्तं पापम्! शान्तं पापम्! शृंगी क्या हो गया तुझे? मेरी अनुपस्थितिमें तपोवनको यह क्या हो गया? और भला तेरा वल्कल कहाँ है?"

"वल्कल पुष्करिणीके तीर पड़ा है जिसमें गोतेपर गोता लगाकर भी शरीरकी ज्वाला शान्त न कर सका और अब तो पितृचरणोंमें साधना करनेकी भी सामर्थ्य न रही।" अलसाया आधा सोता आधा जागता शृंगी कुम्हलाये मनसे बोला।

महर्षि तप गये। जाना कि उनकी अनुपस्थितिमें कोई आया-गया है, किसीने शृंगीके नरत्वको छेड़ दिया है। बोले—"बोल शृंगी, कह न सभी बातें।"

"क्या कहूँ, पिता, नये प्रकारके ब्रह्मचारी आये—मधुरदर्शन, हिम-धवल, रागरंजित, कटि पर्यन्त केश कलाप वाले, मृदुतन, स्पर्शसुखद, नयनाभिराम कि देखता रह गया। उन्होंने अपने शरीरसे आलिंगित कर विविध प्रकारसे मुझे भेंटा, चाटा और प्यार किया और जब वे ब्रह्मचारी, जो तुम्हारे रूखे-सूखे क्रिया-प्रबन्धोंसे कृशित जटिल ब्रह्मचारियोंसे सर्वथा भिन्न थे, चले गये तब मेरी शिथिल काया भी जैसे डह चली, जो पुष्करिणी-के शीतल जलमें बार-बार नहाकर भी अभी डह ही रही है। मेरे अच्छे पिता, मैं उन ब्रह्मचारियोंके पास जाऊँगा।" शृंगी बोला।

महर्षिने जान लिया कि मानवगन्ध पुत्रको लग गयी है और अब तुषारका मारा कमल आचारकी छायामें न जी सकेगा। फिर भी वे दिनों उसे अगोरकर बैठे रहे, भरसक उसकी रक्षाका प्रयत्न किया। अपने वनावासमें उधर नर्तकियाँ मन्त्रियोंके साथ शृंगीकी प्रतीक्षामें बैठी रहीं।

पर तपका कार्य कष्टसाध्य है, आश्रममें चुप बैठे रहनेसे भी नहीं सध पाता। तपोधनको एक दिन आश्रमसे बाहर जाना ही पड़ा। अयोध्याका चरमण्डल आश्रमके कोने-कोनेपर आँखें गड़ाये विचर रहा था और उसने तत्काल वारवनिताओंको सूचना दी कि तपोवन रक्षाहीन है, कि शृंगी अकेला आश्रममें डह रहा है।

आश्रमपर मदनका फिर धावा हुआ और इस बार उसने वहाँ न तन छोड़ा, न मन, शृंगीको नगरकी ओर वह उठा ले चला। प्रमदाओंने अतिशय विलासके सम्मोहनकी बात शृंगीसे पहले ही कह दी थी और यह भी कि तपोवनके वातावरणमें वह देवदुर्लभ भोग सरल साध्य नहीं, कि उसके लिए नगरके उद्दीपक परकोटेमें जाना होगा।

शृंगी वारांगनाओं और मन्त्रियोंके साथ अयोध्या पहुँचा। उसने दशरथका पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। रानियोंकी कोख भरी, महर्षिका तपोवन उजड़ गया। वरुणकी तुला हाथसे छूट पड़ी, पुण्यका मस्तक झुक गया, पाप विहँसा।

जब क्षत्रिय ब्राह्मणका गुरु बना !

बात बहुत पुरानी है, उत्तर-वैदिक कालकी—जब महाभारतका युद्ध अभी हाल, केवल दो सौ बरस पहिले, होकर चुका था। वह काल उपनिषदोंका युग कहलाता था। तब वैदिक ऋषियोंका युग समाप्त हो चुका था और वर्णोंके बीच एक नये संघर्षने जन्म लिया था। विश्वामित्र और वसिष्ठमें कर्मकाण्ड और पुरोहितोंके लिए कशमकश अभी लोगोंको भूली न थी, बल्कि उनके वंशजोंमें नये सिरेसे, नई शक्ति और उत्साहसे वही कशमकश फिर उभड़ आई थी।

वैदिक कालमें ही ब्राह्मण ऋषियोंने पुरोहिताई अपने हाथमें भरपूर कर ली थी, यज्ञोंकी कुंजीके रूपमें कर्मकाण्डकी पोथीके अपने विशेष ग्रन्थ भी उन्होंने अलग रच लिये थे जिन्हें वे अपने नामके सदृश ही 'ब्राह्मण' कहते थे। उधर राजन्योंने भूमिपर कब्जा कर लिया था। और देशके राजा और सामन्तोंके रूपमें वही स्वामी थे। क्षत्रिय राजाओंके अधिकारमें बड़े-से-बड़े जनपद आ गये थे और नये-नये जनपदोंके लिए वे अश्वमेध और दिग्विजय करने लगे थे। आदर्श 'एकराट् चक्रवर्ती' का था जिसके लिए राजा नित्य रक्तपात करते और दूसरोंकी स्वाधीनता कुचलकर अपना वैभव और ऐश्वर्य बढ़ाते।

राजाओंकी यह तृष्णा इतनी बढ़ी कि अनेक बार ब्राह्मण ऋषियोंको उनके यज्ञोंको असफल करनेमें भी तत्परता दिखानी पड़ी। अर्जुनके परपोते जनमेजयके अश्वमेधको जब अपनी चतुराईसे उसके पुरोहित तुरकावषेयने अपवित्र कर दिया तब जनमेजयके भाइयोंने अपने क्षत्रिय बन्धुओं और अनुचरोंके साथ ब्राह्मणोंका नरसंहार किया। वह परम्परा अभी मरी न थी और दोनों पक्षोंके नये वंशधरोंमें भी राज्य था। तभीकी बात है यह।

वह उपनिषद्-काल था जब राजाओंको भूमि जीतनेकी तृष्णा भूमिकी उपलब्धिसे मिट चली। तब एक दूसरी तृष्णाने उनके भीतर घर किया। वह तृष्णा थी ज्ञान-विजयकी। अब उन्होंने ज्ञानके क्षेत्रमें अपना साका चलाना चाहा और चलाया भी। राजाओंके दरबार तब ज्ञानके अखाड़े बन गये। और उनमें ऋषियों और ब्रह्मवादियोंके शास्त्रार्थ होने लगे। अबके ज्ञान-गुरु ब्राह्मण नहीं क्षत्रिय थे, और वह भी क्षत्रिय राजा। उन्होंने प्रजाका रुख़ एक दूसरी ओर फेर दिया जिसका न कोई शरीर था, न कोई आकृति थी, जो न खाता था न खिलाता था, फिर जो सर्वशक्तिमान् था, और जिसे 'ब्रह्म' कहते थे। इन्द्रको मांस और सुरासे छकानेवाले भौतिक संबलवाले बेचारे ब्राह्मणोंको भला इस नये अशरीरी ब्रह्म और उसके अनुचर आत्माका बोध कैसे होता? उनके इन्द्रका जाल इस नये ब्रह्मके इन्द्रजालसे कट गया और कर्मकाण्डका सारा आधार ही नष्ट हो गया। अब उनके लिए सिवा इसके कोई चारा न था कि वे राजाओंके अनुयायी बनते, उनके द्वारा आयोजित दरबारी शास्त्रार्थोंमें भाग लेते।

देशमें ऐसे दरबारी अखाड़ोंकी संख्या चार थी—पंजाबमें केकय, गंगा-यमुनाके द्वाबमें पंचाल, काशी—जनपदमें काशी और उत्तर बिहारमें मिथिला। इनमें सबसे पूरबका दरबार जनक विदेहका मिथिलामें था। राजा जनक, जो रामचन्द्रके ससुर और जानकीके पिता थे वे सीरध्वज जनक थे, विदेह जनकसे भिन्न और बहुत पहिलेके। परन्तु विदेह जनक उनसे महान् माने गये क्योंकि उन्होंने विदेह जातिकी जनताका नाम विरुदके रूपमें धारण कर उसे ऐसा रूप दिया जो ब्रह्मज्ञानी ऋषिका बाना बन गया—देह रहते उसने उन्हें विदेह अर्थात् जीवन्मुक्त बना दिया, यद्यपि वह उतने ही पार्थिव थे जितने उनके विदेहभिन्न अनुयायी। क्योंकि कहा जाता है कि एक पैर जहाँ उनका सिंहासनपर रहता था वहीं दूसरा जंगलमें रहता था—काश कि कोई समझ पाता कि चाहे उनका एक पैर जंगलमें रहता रहा हो दूसरा निःसंदेह सिंहासनपर जमा रहता था।

मिथिलाके पच्छिमके काशी जनपदके स्वामी अजातशत्रु थे और जैसे जनकके दरबारमें याज्ञवल्क्य आदि ऋषि जनकके उपदेशका अमृत अपने कानोंमें ग्रहण करते थे वैसे ही काशिराज अजातशत्रुके दरबारमें दृप्त बालाकि आदि ऋषि राजा द्वारा किये ब्रह्म और आत्माकी व्याख्या सुनकर अपना दर्प मेटते थे। वैसे ही पंचालोंकी राजधानी कंपिलामें प्रवहण जैबलि अपनी पंचाल-परिषद्‌में ब्रह्मका विस्तार करता था। सबसे पच्छिम उस मध्य पंजाबमें जहाँसे राजा दशरथको उनकी छोटी रानी कैकेयी मिली थी वहीं केकय जनपद था। उस जनपदका स्वामी अश्वपति कैकेय था। उसी अश्वपतिकी यह कहानी है जो क्षत्रियोंके वैभव और ब्राह्मणोंके पराभवकी वार्तामें उपनिषदोंमें अमर हो गई है।

उद्दालक आरुणि अपने आश्रममें एकसे एक विचक्षण ऋषिकुमारोंको ब्रह्माचरणमें दीक्षित करते और उन्हें वैदिक ज्ञानमें पारङ्गत करते थे। इन्हीं कुमारोंमें स्वयं उनका पुत्र श्वेतकेतु और बादमें विख्यात होनेवाले याज्ञवल्क्य थे। विद्याध्ययन समाप्त कर श्वेतकेतु आरुणेय और याज्ञवल्क्य ज्ञानकी दिग्विजयके लिए आश्रमसे बाहर निकले।

अभी कुछ ही दूर गये थे कि विदेह जनकका रथ सामने आता दिखाई पड़ा। श्वेतकेतुका कुलागत दर्द जागा, इधर नये ज्ञानमें मजा हुआ मुसकराता राजन्य ब्राह्मणोंकी सकपकाई स्थितिको भाँप कर भीतर भी मुदित हो रहा था। राह कौन दे, प्रश्न यह था। और छिड़ गया शास्त्रार्थ। राजाने बहसके बीच अग्निहोत्र संबंधी प्रश्न किये ? कुमार निरुत्तर हो गये, उनका दर्पिल मानस कुम्हला गया। उन्होंने राजाको मार्ग दे दिया। सन्तुष्ट मुदित राजाने कुमारोंको शिष्यत्वके लिए निमन्त्रित किया। याज्ञवल्क्य तो ज्ञानको इष्ट मान राजाके पीछे चले पर ज्ञानके धनी आचार्योंका कुल-दर्प श्वेतकेतुमें जागा और उसने राजन्यको गुरु बनानेसे इन्कार कर दिया।

पिताके आश्रमको लौट उसने महर्षि आरुणिसे पूछा—पिता, यह क्या पढ़ाया हमें तुमने जो राजन्यके प्रश्नके सामने हमारी एक न चली। पिताने

तथ्य जानकर कहा—वत्स, विद्या वह गूढ़ है, केवल राजाओंकी जानी है। और जो तुम जनकके पास लौटनेमें लजाते हो तो अश्वपतिके पास चलो, पर भूलो नहीं कि ज्ञान यह तुम्हें राजन्य ही देगा, ब्राह्मण नहीं, और कि वह दिशा मेरी भी अनजानी है।

और जब श्वेतकेतुने पिताकी बात मान ली तब पिता-पुत्र दोनों अश्वपतिके देश केकयको चले जहाँ राजा अपने ज्ञानका प्रसार सैन्धवोंसे शौरसेनों तक करता था, कुरुओंसे मत्स्यों तक। उसके राज्यमें न तो चोर थे न मद्यप और न स्त्रैण न अशिक्षित, और वह बड़े घमण्डसे कहा करता था—

> "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
> नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥"

उसी राजाके दरबारमें जब आरुणि और आरुणेय पहुँचे तब अश्वपतिने उनका इष्ट जान उन्हें संबोधित कर कहा—"समित्पाणी भव!"—हाथोंमें समिधा धारण करो!

यह राजाकी स्वाभाविक ही गर्वोक्ति थी क्योंकि क्षत्रियको गुरु बनाकर उसका ज्ञान पानेके लिए उसके सामने ब्राह्मण ऋषियोंकी दो पीढ़ी सिर झुकाये हाथ जोड़े खड़ी थी। उसके लिए वह समय निस्संदेह बड़े अभिमानका था।

मंत्र यह ब्राह्मण आचार्यका था, कुलपति ऋषिका, जिसका वह आश्रममें वेदाध्ययनके लिए आये नये ब्रह्मचारीको दीक्षित करते समय उच्चारण किया करता था। वह ब्राह्मण-गुरुका मंत्र था, इस अर्थमें प्रयुक्त कि ज्ञान तुम्हारा कच्चा है, उसी कच्ची लकड़ीकी तरह जो तुम्हारे हाथमें है, कच्चा ईंधन, जिसे मैं अपने ज्ञानकी अग्निसे प्रज्वलित कर दूँगा और तुम 'विदग्ध' हो जाओगे।

श्वेतकेतु और उसके पिताने शिष्यके रूपमें प्रतीक स्वरूप ईंधन या समिधा धारण की और राजन्य राजा अश्वपति कैकेयने उन्हें अपने ज्ञानसे विदग्ध कर गुरुका आदर पाया।

कपट-गज

वत्सराज उदयन यद्यपि अपने रोमाञ्चक कृत्योंके लिए विशेष प्रसिद्ध हो गया है, वह किसी अंशमें भी युद्धसे विरत न था। जिस प्रकार पिछले कालके मुग़ल बादशाह विलाससे विमुख न होते हुए भी युद्धके प्रति जागरूक रहते थे उसी प्रकार उदयन भी मर्मकी प्यासके साथ ही खड्गकी प्यास भी बुझाया करता था। जिस घटनाका हम यहाँ उल्लेख करने जा रहे हैं उसमें युद्ध और विलास दोनोंके आकर्षक अंश मिले हैं।

बुद्धके समयकी बात है, ईसासे प्रायः ५५० वर्ष पहलेकी। देशमें चार प्रबल राज्य एक दूसरेसे टकराते रहते थे—मगध, कोसल, वत्स, अवन्ती। विशेष रण-साज मगध और कोसलके मध्य, वैसे ही वत्स और अवन्तीके बीच सजा करते। महाभारत युद्धके कई पीढ़ियों पश्चात् जब गंगाकी बाढ़से कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर बह गया, तब जनमेजयके वंशज निचक्षुने यमुनाके तटपर आजके इलाहाबादके जिलेमें, प्रयागसे कोई ३५ मील पश्चिम, कौशाम्बी नगरीमें अपनी राजधानी स्थापित की। वह राजधानी वत्सोंकी कहलाई और कालान्तरमें कौशाम्बीका राजा उदयन हुआ।

उदयन विलासी था। अनुराग उसके अन्तरको सदा अभिषिक्त रखता। और अपने रागमें उसने समीपवर्ती चराचरको रँग दिया। नारी न थी जिसके अन्तरमें उसके लिए टीस न उठी, नर न था जिसने अपने प्यारकी सौगन्ध उदयनके विलाससे न खाई। कौशाम्बीके महलोंमें मृदंगकी स्निग्ध गम्भीर ध्वनि अट्ट-प्रकोष्ठोंको गुँजाती रहती, और घोषाका निनाद राजप्रासादके कलश-कँगूरोंके ऊपर उठ दिशाओंमें छा जाता। घोषा उदयनकी

वीणाका नाम था और वीणा-वादनमें उदयनसे बढ़कर कोई निपुण न हुआ, न तब, न तबके पहले, न तबके पीछे।

प्रासादका प्रमदवन अपने छोरोंकी छाया यमुनाकी लहरियोंपर डालता और जब तटके खुले निकुञ्जमें सजी दोलापर बैठे उदयन और उसकी प्रियाको सहचरियाँ झुलातीं तब उसकी पेंगभरी छायाको छूते ही कालिन्दी-का गहरा नीला हृदय जैसे आनन्दसे डोल उठता।

उदयन और अवन्ती (मालवा) के राजा चण्डप्रद्योत महासेनमें पुरानी अनबन थी। वत्स उत्तरमें था, अवन्ती दूर दक्षिणमें। पर दोनोंकी सीमाएँ एक-दूसरेसे लगती थीं और राजनीतिमें तो पड़ोसी ही स्वाभाविक शत्रु होता है, प्रकृत्यमित्र। सो उदयन और प्रद्योत भी स्वाभाविक शत्रु थे। निरन्तर दोनोंमें टक्करें होतीं और कभी अवन्ती कभी वत्सकी भूमिका एक टुकड़ा शत्रु-राज्यके हाथमें चला जाता। अन्तमें प्रद्योतने निश्चय किया कि शस्त्रधनी उदयन विलासके बावजूद यदि शस्त्रसे न जीता जा सका तो कपटसे ही क्यों न उसे वशमें करें, आखिर चतुर्विधा राजनीतिके ही अंग साम और दाम भी तो हैं। निश्चयको कार्यरूपमें बदलते उसे देर न लगी।

वनोंमें माधव डोल रहा था, वासन्ती लताएँ सहकार वृक्षोंको अपने कलेवरमें लपेटे निहाल कर रही थीं, मञ्जरियों और कुसुमोंसे पराग बरस रही थी, भौंरोंकी गूँजसे वनका कोना-कोना गुञ्जायमान था। तभी सीमान्त वनके रखवालोंने निवेदन किया—"देव, विशाल गज वनके एकान्तमें देखा गया है। देव उसके बन्धनके लिए शीघ्र पधारें। ऋतुराज यौवनपर है, वनका कोना-कोना सूर्यके प्रखर-किरणजालसे उजागर है।"

राजा हस्तिकान्त लेकर सीमान्तके वनोंकी ओर नालागिरि हाथीपर सपद भागा। राजा हाथियोंके शिकारका बड़ा शौक़ीन था। नारीके सामीप्य सुखमें अगर कोई बाधा होती तो बस इसी हाथीके शिकारकी, क्योंकि अच्छे गजके वनमें देखे जानेपर राजा फिर विलासकक्षमें नहीं रुक सकता था अङ्कशायिनी चाहे उर्वशी हो, चाहे रम्भा; चाहे मेनका, चाहे

चित्रलेखा। और यह हस्तिकान्त वीणा उसकी घोषासे भिन्न थी। घोषा वह तब निनादित करता जब नारीका कोमल अन्तर उसके मर्मको छूता होता और हस्तिकान्त वह तब स्वरित करता जब वनकी उपत्यकामें गज-राज अपनी सूँड़से गुंजलक भरता होता। चला उदयन हस्तिकान्त वीणा लिये।

पाया उसने वह विशाल गज, पर अकेला, जब उसके सहचर और आटविक-वनचर पीछे छूट गये थे। हस्तिकान्तके मादक स्वरसे उसे ऐसा लगा कि गजके पग थिरकने लगे, कि उसके गुंजलकोंकी गति तीव्र और तालप्रवण हो गई। वीणा हाथमें लिये राजा हाथीको बाँधनेके विचारसे आगे बढ़ा। हाथी चुपचाप खड़ा था, विशाल, निश्चल कालकूट। वनचरोंकी राह न देख शिकारी गजके निकट पहुँच गया, अतिनिकट, स्पर्शकी दूरीमें। और तब वह सहसा चिहुँका। गज प्रकृत गज न था, कपट गज था। सहसा उसका उदर कपाटकी भाँति खुल गया और अनेक सशस्त्र सैनिकोंने निकल कर उदयनको घेर लिया। गजराजको बाँधनेकी इच्छा करने वाला नरराज स्वयं बँध गया।

उज्जैनीकी कारामें रहते साल बीत गये। ऋतुएँ सहसा आतीं, सहसा चली जातीं। राजाकी काराकी दीवारें मोटी थीं, उसके परकोटेमें उपवन न था। पर जब मधुकी रातें आकाशपर छा जातीं, जब कोयलकी कूक दीवारोंको छेद काराके अन्तरमें बिजलीकी भाँति कौंध जाती तब भला उदयन कैसे न जानता कि प्रकृति उसका उपहास कर रही है, कि जगत्में वसन्त बगरा है, कि प्रियाकी यादमें कोयल टेर रही है? और तन्त्रीनाद सहसा वह चलता, सहसा चुप भी हो जाता, क्योंकि उस नादका अर्थ क्या जो किसीको छू न पाये, जिसके स्पर्शसे किसीके रोम पुलक न उठें? उद-यनने देखा, उसकी काराकी दीवारें पत्थरकी हैं, और कौशाम्बी दूर उत्तर

है, पहाड़ोंके पार, जहाँ वसन्तमें भी उसके अभावमें हेमन्त छाया है, शिशिर काँपता है। और वह तन्त्री धर देता।

पर तन्त्रीवादनमें उदयनका कौशल किसका न जाना था। उसके नादसे शिप्राका अन्तर वैसे ही काँप उठा करता था जैसे यमुनाका। और शिप्राके तटपर उज्जैनीके राजाके अभिराम प्रासादमें एक नितान्त कमनीय काया थी, प्रद्योतकी सुन्दरी कन्या वासवदत्ता। वासवदत्ता अनाघ्रात कुसुमकी भाँति टटकी, अलोनी मंजरीकी भाँति, प्रातः अछूते मन्द समीरणकी भाँति पराग निर्मित काया-सी थी। पर उसके पावन हियेमें भी उदयनके रागका कम्पन घर कर चुका था। बहुत पहलेसे जब वत्सराज अभी कौशाम्बीमें ही था वह उसके राग-वैभवकी कथा सुन चुकी थी। तन्त्रीनादपर उसकी प्रभुता वत्ससे आने वाले गायक उसके पितासे बताते, स्वयं उससे बखानते और उत्कंठित मृगीकी भाँति वत्सकी ओर, उत्तर कालिन्दीकी धाराकी ओर वासवदत्ता अपनी वीणाकी झंकार प्रवाहित कर देती—कौन जाने अनिलवाही राग कदाचित् वत्सराजके तन्त्री-नादको छू ले। और जो पुलक इस असम्भव कल्पनासे उसे हो आती उसका आनन्द अत्यन्त गोपनीय था, उसकी सखियोंका भी अजाना।

काराका तन्त्रीनाद जब दिगन्तको लहरा चला तब वासवदत्ताके अन्तरने भी वह टेर सुनी, अपने पुंस्कोकिलकी टेर, जिसके सुनने मात्रसे उसकी काया काँप उठी।

पितासे वासवदत्ताने अनुनय की कि उसे उदयनके वीणावादनका लाभ हो और प्रद्योतने उदयनसे वीणा सीखनेकी आज्ञा कन्याको दे दी। उदयन और वासवदत्ता वीणाके माध्यमसे मिले। दोनोंके राग एक दूसरेको विकम्पित करते और धीरे-धीरे अनुरागके अंकुर दोनोंके हियेमें फूट पड़े। उदयनका राग-सौरभ जब शिप्रातीरके उस राजावासमें विमान भूमिके चाँदनीमें चमकते तलपर झरने लगता तब जैसे चराचर सहसा ठमक जाता, वासवदत्ताके भीतर कामनाओंकी बेलें लहरा उठतीं। अनन्त कमनीय साधें उसे

आन्दोलित कर देतीं और उसके सालस नयन अपलक तन्त्रीके तारोंपर जादूकी-सी फिरती राजाकी उँगलियोंको निहारने लगतीं। दोनोंने एक-दूसरेको जाना, दोनों मद गये।

प्रद्योत अब अवन्तीके साथ-साथ वत्सका भी राजा था, उज्जैनीके साथ कौशाम्बीका भी। पर जहाँ उज्जैनी रागध्वनित थी वहाँ कौशाम्वी राग-हीन सूनी हो गई थी। उसका नायक उज्जैनीका बन्दी था।

एक दिन सहसा उज्जैनीके उत्तर द्वारसे एक हाथी निकला और राज-पथपर दौड़ चला। उज्जैनीके नर-नारी निद्रामग्न थे, शिप्राकी लहरियाँ निश्चित सोती थीं, प्राचीरोंके पहरुए ऊँघ रहे थे और हाथी उत्तरकी ओर भागा जा रहा था। जिस कपटसे अवन्तीके राजाने वत्सराजको बाँधा था उसी कपट-गजकी आकृति वाले नालागिरिपर उदयनको भगाकर उसके मन्त्री यौगन्धरायणने राजमातासे की हुई अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

हाथी भागा। राजा आगे बैठा वीणा हाथमें लिये था, पीछे उसकी कमरसे चिपटी वासवदत्ता बैठी थी। और पीछे सेवक यौगन्धरायण नकुली (तोड़ा) का मुँह खोले सोना बरसा रहा था जिसमें पीछा करने वाले शत्रु सैनिक सिक्के चुननेमें लगे रहें और नालागिरि कौशाम्बी पहुँच जाय। नालागिरि कौशाम्बी पहुँचा, वत्सका विलास लौटा, कौशाम्बीकी यमुना लहरा कर बही। और कौशाम्बीके कलावन्तोंने राजाका वह वासवदत्ताके साथ पलायन अपने साँचेमें ढाल लिया। अनेकानेक कौशाम्बीके मिट्टीके ठीकरोंपर यह अभिराम कथा खुदी मिलती है।

भारतका कोलम्बस : विजयकुमार

विजय कोलम्बस और वास्को दि गामाकी परम्पराका था। उनका ही सुदूरका पूर्ववर्ती। उसकी लंका-यात्राकी कहानी साहित्य और कलाकी कृतियोंमें लिखी है। अजन्ताकी भित्ति-चित्रोंसे भी अधिक सजीव अतीव मांसल उत्खचन उस यात्राका कठोर शिलाओंपर मिलता है।

और यह पत्थरमें लिखी कहानी, जिस विजयकी है, वह राजकुमार था, देश-निकाला राजकुमार। समुन्दर लाँघनेकी जितनी कथाएँ आदमीने गढ़ी है, उन सबसे सजीव, सबसे सच्ची, सबसे रोमांचक लोमहर्षक कथा इसी राजकुमार विजयकी है, जिसने उत्तर भारतमें जन्म लेकर लंकाकी विजय की; उसके नामकरण किये—ताम्रपर्णी, सिंहल। आज हम उसीके दिये 'सिंहल' नामका व्यवहार लंकाके लिए कर रहे हैं; और सदियोंसे हमारे पूर्वज, हमारे साहित्य करते आ रहे हैं।

बंगालकी दक्षिणी सीमापर, सागरतटके ताम्रलिप्तिके वनोंमें विकराल दस्यु दर्पिल रहता था। दर्पिल कठोर और साहसिक था। साहसका कोई कार्य न था, जिसे वह सहज रूपसे अनायास न कर ले। उसके शरीरमें कमानकी लचक थी, शेरका हल्कापन था, सुअरकी निर्भीकता थी, साँड़का बल था। भीषणता उसके कार्यमें अधिक थी, कायामें कम। अनेक लोगोंको उसकी वह ऊर्जस्वित् शिराव्यंजित काया कमनीय लगती। पर उनकी अपनी-अपनी सीमाएँ थीं, अपने-अपने भय थे।

ऐसे ही लोगोंमें बंगराजकी कन्या नाटिका थी। नाटिका धूमकी आवर्त-मयी वर्तिका थी, शरच्चन्द्रकी मरीचियों-सी कोमल! और उसे दस्यु बड़ा रुचता। उसका प्रत्येक भंग, प्रत्येक मुद्रा उसे भली लगती। अनेक बार उसने उसे देखा था। पहले जब उसने उसे देखा था तब वह दस्यु न था।

दूसरी और तीसरी बार भी उसने उस सैनिकके बेटेको पिताके सामने अनुनय करते ही देखा था। पर अगली बार उसकी भंगिमा बदल गई थी। सहसा उसकी मुद्रा नितान्त परुष हो उठी थी। फिर उसे किसीने हँसते न देखा था, रोते न देखा था। और एक दिन, वह नगरसे गायब हो गया था। उसके पिताने उसे खोजा था। उसके राजाने उसके लिए ढिंढोरा पिटवाया था। उसका पता देनेवालेको पुरस्कार घोषित किया गया था। पर, किसीने उसका पता न पाया था।

पर उसकी लूट जारी थी, सार्थवाहोंकी लूट, राजकोषकी लूट, नगरों-की लूट। संसारसे अब उसे कोई नाता न था। अगर उसकी ममताकी कोई डोरी थी, तो बस नाटिका। और एक दिन जब, नगर राजकन्याको व्याहने आये चम्पाके राजकुमारकी बारातसे भरा था, जब तुर्य और दुन्दुभीकी ध्वनिसे दिशाएँ गूँज रही थीं, जब प्रसाधिकाएँ वधूको विवाहके लिए सजा रही थीं, तभी सहसा दर्पिल महलोंमें घुस आया था, और राजकन्या गायब हो गई थी। फिर किसीने उनका पता न पाया था—न दर्पिलका, न नाटिकाका।

दोनों पूर्व सागरसे उठकर पश्चिम सागर तटपर चले गये थे, लाट देश, दक्षिण गुजरात। वहीं, पहले मधुके दसवें महीने बाद, राजकन्याको एक पुत्र हुआ और एक पुत्री। कुमारका नाम था सिंहबाहु, और कुमारी-का सीवली। दोनों, दो देह एक प्राण थे; एक तन, एक छाया। और, तारुण्यके आरम्भमें ही दोनोंने परस्पर विवाह कर लिया। सिंहबाहुने सिंह-पुर नामक नगर बसाया; और उसे अपनी राजधानी बना, वहींसे सारे लाटपर राज करने लगा।

अनेक सन्तानोंका वह सिंहबाहु पिता था। एक-एक कर बत्तीस सन्त-तियाँ उसे हुईं। इनमें सबसे बड़ा विजय कुमार था।

विजय कुमारकी प्रकृति नितान्त अदम्य थी, उग्र और कठोर। अपने साथियोंको ले, वह पिताकी प्रजाको पीड़ित करने लगा। और जब, उसका

प्रजापर अत्याचार असह्य हो गया, तब सिंहबाहुने और उपाय न देख उसे उसके साथियोंके साथ राज्यसे निकाल दिया।

सात सौ विक्रान्त मित्र अपनी स्त्रियोंके साथ विजयके पीछे चले। दो विशाल पोतोंमें वे लद गये। एकमें पुरुष, दूसरेमें अनुचरों और कुछ सैनिकोंके साथ स्त्रियाँ। जहाज़ोंने लंगर उठा लिये। पश्चिमी सागरमें दक्षिणकी ओर वे चले।

पोत कुछ काल तो अनुकूल वायुके सहारे चलते रहे। प्रसन्न विजय निर्वासित होकर भी मित्रोंके बीच सागरकी लहरोंपर भी प्रसन्न ही था। पोतोंपर जीवनकी सारी आवश्यकताएँ संग्रहीत थीं—खाद्य और पेय, वाद्य और गायक, सभी। और कब दिन हुआ, कब रात हुई, किसीने न जाना।

पर एक दिन जब दिशाएँ प्रसन्न थीं, पश्चिमका आकाश सहसा मैला हो गया। देखते-ही-देखते वह मेघोंसे भर गया। काले घुमड़ते मेघ, उनये-ठसे मेघ, पहले, न तड़पे, न बरसे; बस आकाशको भरते गये और सहसा दिनकी रात हो गई। प्रकाशके सारे द्वार मेघोंने बन्द कर दिये। फिर पवन उठे, उनचासों पवन। अब मेघ भी तड़पे। जितना ही वेग पवनका था, उतनी ही गरज मेघोंकी थी। घने मेघ, कुपित मारुत, अन्धी दिशाएँ; पोत छिन्न-भिन्न हो गये।

कुछ काल तक तो मांझियोंने आँधी-पानीके होते भी दोनों पोतोंको एक साथ रखनेका यत्न किया। पर क्षुब्ध सागरकी गगनचुम्बी लहरोंके आगे उनकी एक न चली। दोनों जहाज़ दो ओर बह गये। स्त्रियों वाला किधर गया, इतिहासने न जाना। मधुयामिनी-सी सुकुमार, जुही-सी उज्ज्वल, स्वप्न-सी मधुर नारियाँ थीं उसमें। पर, तूफ़ानने कब भला मृदुताकी साख रखी!

पर, विजयका पोत बच गया। तूफ़ानके संकट झेलता, अन्तमें, वह किनारे जा लगा, और प्रसिद्ध पत्तन सूर्पारकके बन्दरमें उसने आश्रय

लिया । आजका, सोपारा ही उस कालका सूर्पारक था—पश्चिमी समुद्र तटपर भारतका प्रसिद्ध बन्दर ।

सूर्पारकके नर-नारियोंने विजयका सहृदय स्वागत किया । उसे अर्घ्य-दान दिया । उसका अभिनन्दन किया । उसे रहनेको प्रासाद दिया । पर, उद्दण्ड विजय अपने व्यवहारसे न चूका, कैसे भी न चूका । उसके सैनिक आपानकोंसे निकल राजमार्गपर दंगे करते । नागरिकोंको सताते । उनका अपमान करते । दम्पतियोंको छेड़ते । अन्तमें, सूर्पारककी जनता क्षुब्ध हो उठी । पहले, उसे देश-निकाले राजकुमारका मोह था । उसने उसे शरण दी । पर, जब विजय और उसके मित्र सूर्पारकके शत्रु बन गये, अपने आश्रयसे ही शत्रुता करने लगे, तब लाचार, जनताने विजय और उसके मित्रोंको मार डालनेकी ठानी । भाग्यवश विजयको सूर्पारकके नागरिकोंके षड्यन्त्रका पता चल गया, और उसने संकटसे पहले भाग जानेका प्रबन्ध कर लिया । अनेक पोत सज गये, और नागरिकोंकी आँख बचा विजय अपने साथियों सहित सूर्पारकसे निकल भागा ।

पश्चिमी समुद्र-तटपर, जहाँ आज भड़ौच है, वहाँ तब प्रसिद्ध बन्दर भरुकच्छ था । उसी भरुकच्छके विशाल बन्दरमें विजय अपने साहसिक साथियों सहित उतरा । पर भरुकच्छकी भूमि भी उसे न भायी । वस्तुतः भूमिके भानेकी कोई बात न थी । सारा दोष उसके और उसके सैनिकोंकी उद्दण्डताका था । सूर्पारकमें किये उसके अपराध भरुकच्छमें कबके पहुँच चुके थे । वहाँके नागरिक, रक्षक-सैनिक चुप थे । उन्होंने विजयके बन्दरमें प्रवेश करने या भूमिपर उतरनेमें बाधा न डाली । पर वे सन्नद्ध रहे, कि यदि नवागतोंने उनके आतिथ्यका दुरुपयोग किया, तो उनका व्यवहार विजयके साथ सूर्पारकके नागरिकोंसे सर्वथा भिन्न होगा । दो-चार दिनोंमें ही, दो-एक मुठभेड़में ही प्रगट हो गया कि भरुकच्छमें विजयके साथियोंके पैर न टिक सकेंगे । फिर तो, विजयके जहाजोंने लंगर उठा लिया ।

अब, विजय दक्षिणकी ओर चला । गन्तव्य उसका जाना न था । पर,

चला वह दक्षिणकी ओर। तटके दृष्टिसे ओझल होते ही तूफ़ान आया। विजयके माँझियोंने सब कुछ किया, जो सम्भव था। पर जहाज़ोंको छिन्न-भिन्न होनेसे वे न बचा सके। बेड़ेके अनेक जहाज़ डूब ही गये, अनेक टूटकर बिखर गये।

पर साहसी विजय सहमा नहीं, तूफ़ानके वेगमें समाता, सागरकी टूटती लहरोंसे टकराता, उसे पार कर ही गया। और पार कर जब वह प्रकृतिस्थ हुआ, तब उसके माँझियोंने बताया, कि अब वे भारतके पश्चिमी तटसे पूर्वी तटकी ओर पहुँच रहे हैं, और भारतके दक्षिणतम छोरको छू रहे हैं। पास ही केरलकी छूटती भूमि सागरके भीतर घुसती चली गयी थी। कुमारीकी वह भूमि माँझियोंको सर्वथा अनजानी न थी।

अब विजयके बचे बेड़ेका मुँह पूर्व-उत्तरकी ओर हो गया था; माँझियोंने रामेश्वरम्का नाम सुना था, पर उसे देखा न था। कभी उधरके सुदूर दक्षिणकी यात्रा न की थी। उनका विचार था कि वे ताम्रपर्णी नदीके मुहानेकी ओर बढ़ चले हैं। बड़े प्रेमसे वे उधर बढ़ते गये। आज कावेरीके दक्षिणमें, जो ताम्बरबनीकी धारा है, वही तब ताम्रपर्णी कहलाती थी; और समुद्रके संयोगसे वह अनन्त मात्रामें मोती उगलती थी। उन मोतियोंका प्राचीन संसारमें बड़ा मूल्य मिलता था। भारतीय माँझी और सौदागर उस कालसे पहले और बहुत पीछे तक पश्चिमके देशों-नगरोंमें ताम्रपर्णीके मुहानेके मोती बेंचते रहे थे। विजयके माँझियोंको भी स्वप्न-देश जैसे अनायास मिल गया। वे प्रसन्न पूरबकी ओर बढ़ चले।

पर वह पूरब न था। उन्हें दिशा-भ्रम हो गया था। वे दक्षिण-पूर्वकी ओर बढ़ रहे थे। अनजाने वे रामेश्वरम्से पश्चिमसे सेतुबन्धसे टकराते दो दिनोंमें लंका जा पहुँचे। पर जाना नहीं उन्होंने, कि वह लंका है। उन्होंने बस यही जाना कि वे ताम्रपर्णीके मुहानेपर भारतके ही तटपर जा पहुँचे हैं। उस भूमिको कहा भी उन्होंने, ताम्रपर्णी। और तभीसे लंकाका दूसरा नाम

ताम्रपर्णी पड़ा। वह नाम भारतमें पीछे इतना प्रसिद्ध हुआ कि उत्तरके अशोकने भी उसका उसी नामसे उल्लेख किया।

विजयने खोजा कुछ था, और कोलम्बसकी भाँति पाया कुछ। पर जो कुछ उसने पाया, उसका सदुपयोग किया। सूर्पारक और भरुकच्छके कटु अनुभवने उसे अब तक समझदार बना दिया था। अब उसने सबसे सद्व्य-वहारकी शपथ ली थी; और स्वयं भी निश्चय कर लिया था कि राज्यकी स्थापना कर वह विधिवत् प्रजाका पालन करेगा, भूमिको जोतकर देशको सम्पन्न करेगा।

विजयने अपनी बात रखी। उसके साथियोंने अपनी शपथ रखी। देशके मूल निवासी वेद्दा उनके अनुचर बने। उनके सहयोगसे विजयके साथियोंने देशकी भूमि बनायी, उसे जोता, उससे अन्न उपजाया। अपनी नारियाँ खो चुकी थीं, मगध-बंगालसे, लाटसे उनका आना सम्भव न था। वेद्दा-नारियोंको, दक्षिण भारतसे आने वाली पाण्ड्य देवियोंको उन्होंने अपनी पत्नी बनाया। नये मानवके योगसे धरती लहलहा उठी। विजयकुमार बादमें विजयसिंहके नामसे प्रसिद्ध हुआ और उसके नामसे लंकाका एक और नाम पड़ा—सिंहल। सिंहलका मुक्ता-सम्पन्न देश पन्नेके रंगका हरा-भरा था, बाँसकी कोंपलों-सा मणिमय। विजय उसके रागमें बँधा, फिर भारत न लौटा।

त्यागके चार चरण

१

वाण-विद्ध हंस कुमारके निकट गिरकर छटपटाने लगा। कोमल अन्तर कभीसे संसारकी कोमलताओंसे चिन्ताकुल था। जीवनकी मधुरता दूसरोंके करुण कोलाहलसे विगलित हो गई थी। 'आर्त सुखी क्योंकर हों ?'—की चिन्ता अहर्निश जागरूक बनाये कुमारने उसे उठा लिया पर वाण निकालते ही रक्तकी धारा बह चली। हाथ लाल हो गये। जलसे धोनेके बाद जब चञ्चु-पुटमें जलकी बूँद गई तब संज्ञाहीन हंसने नेत्र खोले।

देवदत्त, सिद्धार्थका चचेरा भाई, आहत पक्षीकी खोजमें आ निकला। घण्टोंकी भाग-दौड़के बाद उसे यह पक्षी मिला था। उसके अमोघ लक्ष्यका पुरस्कार सिद्धार्थके हाथोंमें था। देवदत्तने पक्षी माँगा। कुमारने कुछ उत्तर न दिया। आखेटके श्रमसे देवदत्त वैसे ही थका था। उसकी वन-माला उसकी व्यस्ततासे मुरझा गई थी। अब जो उसने कुमारके हाथोंमें अपना श्रम-फल देखा, जब अपने सदाके ईर्ष्याके केन्द्र सिद्धार्थको उसे सहलाते पाया, तब क्रोधसे वह जल उठा।

सिद्धार्थने उसे गाली दी; सिद्धार्थने शान्तिपूर्वक हँसकर उसे उत्तर दिया—"तू अपना मरा हुआ हंस यमसे माँग। यह जिलाया हुआ मेरा है।"

जला हुआ देवदत्त शाक्योंके सन्थागारमें पहुँचा। संसद्के सदस्य उठ चुके थे, पर सिद्धार्थके पिता राजा शुद्धोदन व्यवहार (क़ानून) के पण्डितोंके साथ बैठे कथोपकथन कर रहे थे। द्वारपालने निवेदन किया—"कुमार देवदत्त, कुमार सिद्धार्थ।"

शुद्धोदनने सिरके संकेतसे उन्हें आनेकी अनुमति दी। आगे देवदत्त पीछे सिद्धार्थ धीरे-धीरे सभा-भवनमें घुसे। राजाने उन्हें जब आवेशमें प्रवेश करते देखा तब आशङ्कित हो बोल उठे—"कुमार देवदत्त, कुमार सिद्धार्थ, सभा-भवन संघकार्य और अभियोग-विनिश्चयका स्थल है, कहना न होगा।"

"तभी तो वादीके रूपमें उपस्थित हुआ है, महाभाग।" देवदत्त चेष्टाको यथासम्भव प्रकृत करता हुआ बोला। सिद्धार्थकी चेष्टा पहले ही प्रकृत हो चुकी थी और अब उसका मुखमण्डल स्मित हास्यसे कमल-सा खिल उठा था। जब राजाकी दृष्टि उधर गई तब सिद्धार्थ बोला—"मैं प्रतिवादी हूँ, राजन्।"

व्यवहार-पण्डित चकित हो सुनने लगे।

देवदत्त बोला—"कुमारने मेरा शिकार ले लिया है, जो आजके मेरे कठिन श्रमका पुरस्कार था।" उतरे धनुषका सिरा पीठके तरकशके तीरोंके पंख छू रहा था।

राजाने पूछा—"हंस मारा किसने?"

"मैंने।" देवदत्तने सस्वर कहा।

राजाकी दृष्टि सिद्धार्थपर पड़ते ही उत्तरमें कुमार तत्काल बोला—"महाशय, मारा कदाचित् देवदत्तने पर जिलाया हंसको निश्चय मैंने।"

गम्भीर स्थिर स्वरमें अनूठी शान्ति थी। भुजाएँ वक्षपर बँधी थीं, एक हाथमें पक्षी रह-रहकर फड़क उठता, मानो न्यायकी व्यवस्था सुन रहा हो। निःसन्देह उस व्यवस्थापर ही उसका जीवन निर्भर था।

"पर शिकार तो मारनेवालेका होता है, सिद्धार्थ!" राजाने कहा।

"सही व्याधका और मरा हुआ शिकार; यह जीवित है और जिलाया मैंने है," सिद्धार्थ बोला।

सुननेवाले निस्तब्ध थे, राजा तक।

सिद्धार्थ फिर बोला—"यदि न्याय हो तो मुझे हंस दे देनेमें कोई

आपत्ति नहीं। पर आज इसका निर्णय हो जाय कि शिकार मारनेवालेका है या जिलानेवालेका।"

राजाने व्यवहार-पण्डितोंकी ओर देखा। उनका कण्ठ न फूटा। सभी चकित थे, क्योंकि इस प्रश्नका उत्तर न था, न स्मृतियोंमें, न पवेनि-पुत्थकोंमें।

हंसके डैने पुलक उठे। उसका चंचु कुमारकी छातीमें गड़ गया और गहरा।

२

प्रासादमें विभूतियाँ भरी थीं। कमनीय कामिनियोंका अभाव न था, पार्थिव सुखके सभी साधन संगृहीत थे। केवल भोक्ता उदासीन था, तरुण भोक्ता कुमार सिद्धार्थ।

इन भोगोंमें उसकी अनुरक्ति न थी। वह सोचता—अनायास उमगते जीवनके बीच मृत्यु क्यों? इठलाते अल्हड़ यौवनके बाद घिनौनी जरा क्यों? अनन्त सम्पदाके बीच अभाव क्यों?

ऋषियोंसे, पण्डितोंसे, यतियोंसे उसने बार-बार पूछा। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ। उत्तरसे उसे सन्तोष न हुआ। मृत्यु, जरा, अभावका प्रश्न जहाँ-का-तहाँ रह गया। तब उसने स्वयं बोधिफल प्राप्त करनेका संकल्प किया। संकल्पका अर्थ था, गृह-त्याग। गृह-त्यागका अर्थ था उस रूप-राशि गोपा (यशोधरा) का त्याग, जिसका प्यार कण-कणमें बसा था, जिसका उल्लास मर्मको अनन्तरोंसे खींचता था।

पर आर्तोंकी पुकार कहीं अधिक करुण थी। संकल्प दृढ़तर होता गया। एक साँझ उत्तप्त मन दिशाओंका राही हो जानेके लिए व्याकुल हो उठा। तभी दासीने आकर पुत्र होनेका शुभ संवाद दिया। बधाई दी। तरुणके मुँहसे सहसा निकल पड़ा—"राहुल!" भाव था—'विघ्न', पुत्र-रूप विघ्न, जिसने उसके संकल्पको शिथिल कर दिया। दासीने समझा,

पिताने पुत्रका नामकरण किया। उसने रनिवासमें कह सुनाया। नवजातका नाम पड़ा—राहुल।

प्रासादका सुहाग लौटा, कुमारकी संकल्प-रज्जु ढीली पड़ गई। गोपाकी एकांकी प्रणय-शक्तिको पुत्रके आकर्षणने दुगुना कर दिया। सिद्धार्थ संकल्प-विकल्पकी डोलीमें झूलने लगे। जगत्का पाप फला, पुण्य तिरोहित हुआ।

एक दिन राग-तृष्णाका भार फिर हलका हुआ और धीरे-धीरे पहलेके प्रश्न फिर साकार हो उठे। एक रात देर तक नृत्यगान होता रहा। कुमारकी चेष्टा तरलसे अप्रयास कठोर बनी। विलासके जीवित उपकरण मद्य और मदनके सेवनसे थककर सो चले। रातने करवट ली।

विकल मानव उठा। जन-हितकी साधना अविजित प्रेरणा बनी। सिद्धार्थ उठा। देहलीमें उसने पाँव रक्खे। गोपाका मृदुल मानस निद्राके वशीभूत था, पुण्यका अनुपम संचय शिशु-रूपमें माँके स्तनसे लगा था। अमर मानवने एक पग देहलीके बाहर रख शयनकक्षमें झाँका। मदिर आकर्षण, स्निग्ध स्वच्छ स्मृतियाँ हज़ार-हज़ार सूतोंसे उसे अवरुद्ध करने लगीं। तोड़ दिये उसने सारे धागे।

कपिलवस्तु सोया पड़ा था। गौतम रातों-रात कोसलोंके राजमें जा पहुँचा। अभिजात वस्त्र उसने उतार डाले, रेशमी केश खड्गसे काट दिये। अश्वको रक्षकको सौंप वह महापथका पथिक बना। अकेला, नवमयंक-सा क्षितिजपर उगा वह आकाशकी मूर्धाकी ओर चढ़ चला। यह उसका महाभिनिष्क्रमण था, महात्याग।

३

मगधराज बिम्बिसार अपने महलोंसे नित्य देखता। पीले चाँद-सा तेजस्वी तरुण प्रातः राजगृहके प्रासादोंके सामनेसे निकल जाता। तपकी विषण्ण चेष्टा उसके भालपर जैसे तारुण्यका शृंगार बन गई थी। काषायकी

आभा उसके शरीरके दमकते हिरण्यरागको द्विगुणित कर देती । राजा उसे नित्य निहारता । पूछता, यह कौन है ? कैसे असाधारणको भी दुःख व्याप सकता है ? क्या ऐसी दिव्य ज्योतिको भी ज्ञान-लौकी आवश्यकता होगी ? क्या इस महाभागको भी किसी वस्तुकी न्यूनता खल सकती है ?

जब एक दिन उसका कुतूहल परिधि पार कर गया तब राजा बिम्बिसार प्रभात वेलामें तरुण परिव्राजककी राह रोक सामने जा खड़ा हुआ । परिव्राजक राह रुकी देख रुका । भूमिसे उठकर जब दृष्टि सामने पड़ी तब उसने मुकुटधारी मगधनरेशको अंजलिबद्ध खड़े पाया ।

गम्भीर चेष्टा सरल हो गई, मुद्रा सहज । प्रसन्न स्निग्ध वाणीमें परिव्राजक बोला—"कल्याण हो राजकल्प गृहस्थ, शान्ति और पुण्यके अविकल भागी बनो !"

"धन्य हुआ, महाभाग, आशीर्वचनसे । पर उत्कण्ठा बनी रही ।" राजा बोला । "क्या परिचय देकर कृतार्थ करेंगे ? मैं मगधराज बिम्बिसार हूँ ।"

"प्रसन्न हुआ, राजन् । पर बहते पवनका क्या परिचय ? प्रव्रजित यतीका क्या परिचय ?" शीतल वायुके स्पर्शसे चीवरका कोना हिला । शेष मुद्रा निर्वात ज्योतिकी थी । "पर यदि इस वेशके पूर्वका परिचय जानना चाहो तो सरल है—शाक्योंके प्रधान शुद्धोदनका तनय सिद्धार्थ गौतम, जो नाम गृहस्थके वेशके साथ ही कबका त्याग चुका हूँ ।"

"किस आशासे सुखी जीवन छोड़ा, यती ? क्यों शाक्योंका वह असह्य प्रताप तुम्हें अग्राह्य हुआ ? यह राह कठिन है, भन्ते, तुम्हारे अङ्गाङ्ग कोमल हैं, कमलसे । लौटो, लोकको लौटो । और यदि अंगीकार करो, पुत्र-कलत्रसे विकल मगध नरेशका यह राज्य लो, भोगो ।" राजाके तृप्त औदार्यके लिए कुछ भी अदेय न था ।

"अनुगृहीत हुआ । पर नहीं, विमलकीर्ति गृहस्थ, नहीं चाहिए यह अनुपम दान । यदि भूमिका विस्तार लुभा सकता तो शाक्योंकी भू-सम्पदा कुछ कम विस्तृत न थी । फिर शुद्धोदनका वात्सल्य-राज उससे कहीं

विशद था, और यशोधराका स्वप्न देश तो उससे भी कहीं विपुल। नहीं, राजन्, दुःखका घनीभूत वह पुंज नहीं चाहिए, मुझे चाहिए जनहिताय वह सम्यक् सम्बोधि।"

राजाने राह छोड़ दी।

बोला—"सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करो, यती, शान्तिकी विमल ज्योति वसुधामें बिखेरो। पर देखो, जब वह प्राप्त हो जाय तब मुझे उसके प्रकाशसे वंचित न करना। उसकी एक किरण मुझ अकिंचनको भी देना।"

परिव्राजक चलता-चलता मुसकराता हुआ बोला—"तुम्हारे पुण्यसे ही, राजन्, सम्यक् सम्बोधिकी उपलब्धि हो, निर्वाणके दर्शन हों। निश्चय प्रकाश पाते ही तुम्हें भेटूँगा।"

परिव्राजक चला गया। बिम्बिसार देर तक खड़ा दूर पहाड़ियोंमें लुप्त होते उस दीर्घकाय भिक्षुको देखता रहा। भिक्षु फिर न लौटा। सम्यक् सम्बोधिकी ज्योति लिये जब वह लौटा तब बिम्बिसार धरापर न था।

४

बुद्ध कपिलवस्तु आये, पिताके शासनमें। पर संघको निमन्त्रण न मिला। बुद्ध भिक्षापात्र लिये उस महानगरकी सड़कोंपर निकल पड़े। नर-नारी दर्शनको टूटे।

शुद्धोदन भी दौड़े, देखा, संतुष्ट हुए। पर एकाएक दुःखी हो उठे। बुद्धसे पूछा—"यह क्या ? यह कैसा अनाचार, सिद्धार्थ ? पिता तुम्हारा शाक्योंका प्रधान है, उसीके नगरमें भला यह भिक्षाटन ?"

विश्वका जनक हँसा, बोला—"राजन्, तुम राजाओंकी परंपरामें जन्मे हो, मैं भिक्षुओं, भिखमंगोंकी परम्परामें। मेरे भिक्षाटनसे तुम्हें ग्लानि क्यों ?"

राजा स्तब्ध रह गया। तथागत अपनी राह चले गये। राजा झट यशोधराके निकट जाकर बोला—"शुभे, तेरा पति सम्यक् संबोधि प्राप्तकर लौटा है, बुद्ध होकर। राजमार्गपर है, दर्शनका लाभ क्यों नहीं करती ?"

"क्या जानूँ संबोधि, आर्य, क्या जानूँ बुद्धत्व ? मेरे तो आर्यपुत्र, सिद्धार्थ । देहलीके बाहर नहीं जानेकी । नाथ आयेंगे ।" वर्षोंकी प्रतीक्षाने सतीको शक्ति दी थी, विश्वाससे न हिली । देहलीपर जा पहुँची ।

बुद्ध आये । पर भिक्षुके वेशमें, काषाय पहने, भिक्षा-पात्र लिये । यशोधरा खड़ी थी, राहुलको साथ लिये । तथागतकी दृष्टि पत्नीपर पड़ी, फिर तनयपर । न वह उसकी पत्नी थी, न वह उसका तनय था । यशोधराका हृदय उल्लसित हो गया था । जब उसने पतिको अपरिचितकी भाँति अपनेको देखते पाया, तब उसका दिल बैठ गया । तथागतने अप्रयास भिक्षा-पात्र उसके सामने बढ़ा दिया ।

यशोधराको काठ मार गया । क्षणभर वह स्तंभित खड़ी रही । एकाएक एक विचित्र स्फूर्ति उसकी नस-नसमें लगी । क्षणभर उसने बुद्धको देखा । बुद्धकी चेष्टामें तनिक भी अंतर न पड़ा । पीछे आनंद और सारिपुत्र खड़े थे । बुद्ध जान-बूझकर उन्हें साथ ले आये थे । जबानवाले ज़बान चलाते ही हैं और ज़बान सदा मुनासिब ही नहीं चलती । शिष्योंके नेत्र भर आये थे, पर पत्नी शान्त थी ।

यशोधरा बोली—"वर्षों बाद आये हो और वह भी भिक्षा-पात्र साथमें लेकर ! स्वागत तुम्हारा ! आशाएँ और थीं, पर यदि भीख ही देनी पड़ी तो अपना अमूल्य रत्न दूँगी, एकमात्र सहारा, मेरे एकाकीपनका मात्र पूरक, तुम्हारा प्रतिनिधि ।"

उसने राहुलको उठाकर तथागतके बढ़े हाथोंमें दे दिया । तथागतने चुपचाप राहुलको ले लिया । फिर अद्भुत रोष नारीपर छा गया । मातृ-सुलभ गाम्भीर्यके साथ, पत्नी-सुलभ गर्वसे, यशोधरा बेटेसे बोली—"बेटा, पितासे अपनी दाय माँग !"

तथागतकी शान्त-गंभीर ध्वनि तत्काल उत्तरमें सुन पड़ी—"आनंद, राहुलको प्रव्रज्या दो !"

बुद्धका दाँत

कोहेनूरकी कहानी सबको मालूम है पर कम लोग जानते हैं कि लंका-वाला बुद्धका दाँत भी उसी प्रकार अनेक लोमहर्षक परिस्थितियोंसे होकर गुज़रा है। दो-सवा दो हज़ार सालों तक भगवान् बुद्धकी दाहिनी दाढ़ निरन्तर हाथों हाथ, स्थान-स्थान घूमती रही है। किस प्रकार वह उत्तर प्रदेशकी कसिया (कुसीनारा, कुशीनगर, पहले ज़िला गोरखपुर, अब ज़िला देवरिया) से लंकाके काण्डी नगरके दन्त-मन्दिरमें पहुँचा, यह बड़ी दिलचस्प कहानी है।

लंकाकी राजधानी कोलम्बोसे कोई ७५ मीलपर समुद्रतलसे प्रायः सोलह सौ फुटकी ऊँचाईपर पहाड़ी उपत्यकामें काण्डीका अभिराम नगर बसा है। प्रकृतिने उसे अपने हरे अंचलसे अनेकधा लपेट दिया है। रबड़के वृक्षोंकी हरी परम्परा, नारियल और सुपारीके तालवत् छरहरे पेड़ोंकी झुरमुटोंकी छायामें 'बोगम्बर' झीलकी फैली हुई निर्मल काया है जिसके उत्तर और पश्चिमके तटोंपर प्राचीन श्रीखण्ड और आजका काण्डी नगर बसा है। सदा वहाँ वसन्त छाया रहता है, शीतल अभिराम वसन्त, जहाँ कभी ग्रीष्म तप नहीं पाता, जहाँ पावसमें सैकड़ों-सैकड़ों मनोरम जल-प्रपात सहसा उसके पहाड़ोंसे फूट पड़ते हैं।

वहीं, उसी काण्डी नगरमें उसी झीलके तीर, बुद्धका जगत्प्रसिद्ध दन्त-मन्दिर खड़ा है जहाँ सदियों-सहस्राब्दियों घूमकर अन्तमें तथागतके उस दाँतने अपना अन्तिम निवास पाया। इस मन्दिरपर, मन्दिरके इस दन्त-धातुपर, बौद्धोंकी बड़ी अडिग आस्था है। सभी देशोंके भिक्षु उसके दर्शनोंके लिए निरन्तर आते रहते हैं।

मन्दिर दोतला है। प्रधान द्वार पश्चिमकी ओर है। द्वारके भीतर द्वार, चन्द्रशिला और सभामण्डपके पीछे मन्दिरका प्रधान भाग है जहाँ बुद्धका वह दाँत स्थापित है। द्वारपर दो जोड़े हाथीदाँत और गज-सिंह हैं। भीतर एक तंग जीना है जिससे 'उडमाले' या ऊपरके तलको रास्ता गया है। वहीं गर्भ-गृह है जिसके द्वारपर नौ हाथीदाँत हैं, चाँदीके पत्र जड़े हुए हैं। सामने भीतर लोहेकी सलाखें हैं जिनके पीछे चाँदीकी बड़ी स्तूपाकार पिटारी है जिसे वहाँ वाले 'करण्डुवा' कहते हैं। बस उसीमें एकके भीतर एक, सात सोनेकी पिटारियाँ हैं, रत्न-मोती-जड़ी। इन सबसे भीतर वाली पिटारीमें रत्नोंकी छायासे ढकी स्वर्णकायामें दन्त-धातु सुरक्षित है, पवित्र और दर्शनीय।

ईसासे ४८३ साल पहले कसियामें भगवान्‌की मृत्यु हुई। देशके रजवाड़े और राष्ट्र भगवान्‌की हड्डियोंके लिए जूझ मरनेको उद्यत हुए। ब्राह्मणने उनके नौ हिस्से करके सबको बाँट दिया। यह दाँत किसके हाथ लगा, कोई नहीं जानता पर जिसके पारसको छूकर बुद्धकी जिह्वा पैंतीस वर्षों तक उपदेश करती रही थी वह क्यों कर चुप बैठ सकता था? चला वह पूर्वकी ओर।

पूर्वमें कलिङ्गका राष्ट्र था, पूर्वी समुद्रसे लगा। सागरतीरपर उसकी राजधानी नारिकेलोंकी स्निग्ध छायामें सदा जागती थी। भारतके किसी नगरमें तब इतनी हलचल न थी जितनी कलिङ्गके इस विशाल पत्तनमें। सोदोम, तीर और बावेरुके वणिक् अपना क़ीमती माल लिये आते और अपनी पिटारियाँ ख़ालीकर उन्हें सोनेसे भर लेते। मिस्र और अरबसे, चीन और कोरियासे अपने जहाज़ोंके तल भरे सौदागर आते और इस नगरको मण्डियाँ भर देते। ग्रीस और रोमकी ओरसे आई यवनियाँ पत्तनके रसिक नागरिकोंके विलासका साधन बनतीं।

असुर देशकी नर्तकियाँ जब अपने विशाल नयनोंकी लम्बी अलसायी पलकोंकी श्यामल छायामें पत्तनके नागरोंके चषक भरतीं तब नागर अपना

चिरसंचित धन उन्हें सौंप देते। इन सरल-साध्य नारियोंके प्रकोष्ठ देश-देशके पोतस्वामियोंसे कहीं ऋद्ध थे, उनकी पेटिकाओंमें महान् वणिकोंके रत्नोंसे कहीं अधिक प्रभा बन्द थी। राजधानीके सागरतटपर, उसके वन-प्रान्तरोंमें, नारिकेल-कुंजोंमें बहिरुपवनोंमें, अट्टोंमें विलास पलता था, नग्न विलास, जिसके सम्मोहनकी कोई दवा न थी।

कलिङ्गका साधु राजा अपनी नगरीके इस निरंकुश विलाससे दुःखी था। नगरके कभीके असंख्य श्रमण उसके विहारोंकी परम्परासे दृढ़ गृहस्थों-की अटारियोंमें चले आये थे, स्वयं गृहस्थ हो गये थे, नर्तकियों-यवनियोंकी कमनीय कायाके अकिंचन दास बन गये थे। एकमात्र विहारमें नगर और जनपदके भिक्षु अपनी हास्यास्पद नित्य ह्रास होती संख्यापर आँसू डालते और तथागतके उपदेशोंमें रति करते।

महास्थविरने राजासे कहा—"राजन्, सद्धर्म अब, लगता है, धरापर टिकनेका नहीं, मारकी सेना बलवती हो चुकी है। कुछ प्रयत्न करें, नहीं तो बची प्रेरणा भी लुप्त हो जायेगी।"

चिन्तित राजाने और भी द्रवित हो पूछा—"सोचा है, भन्ते? सद्धर्म-की रक्षाका कुछ उपाय सोचा है?"

"सोचा है, राजन्", महास्थविरने कहा, "कुसीनारामें भगवान् तथा-गतकी अस्थियाँ सुरक्षित हैं, उन्हींमें वह दाहिनी दाढ़ भी है जिसके दर्शनसे सम्भवतः हमारी इस पापविगलित नगरीका पाप नसे। स्वप्न देखा है, राजन्, भेजें दूत कसियाको, मँगायें मल्लोंसे वह अनमोल पुण्य रत्न।"

और राजाने कसिया दूत भेजकर मल्लोंसे वह दाँत माँग लिया। कलिङ्गके जंगलोंसे नये पकड़े विशाल गजोंके जुलूस द्वारा उस दाँतकी पूजा हुई। नये मन्दिरके गर्भगृहमें उस असाधारण अस्थिरत्नकी प्रतिष्ठा हुई। यह तो पता नहीं कि सद्धर्मके उखड़े पैर पत्तनकी उस धरामें फिर जमे या नहीं, कि वहाँके विलासियों-विलासिनियोंका रस-मान उससे छीजा या

नहीं, कि मारकी सेनाके उपद्रव कहाँ तक शान्त हुए, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आठ सौ साल तक कलिंगकी इस राजधानीमें तथागतका वह दाँत बना रहा और अशोकके आक्रमणके समय उस नगरने अपना वह अनमोल रतन बचा लिया।

ईसाकी चौथी सदीमें कलिङ्गकी स्थिति बिगड़ी। सारा देश, सागरसे सागर तक, उपद्रवोंसे विकल हो उठा था। तथागतके दाँतके भी लाले पड़ गये और कलिङ्गमें उसकी रक्षा कठिन हो गई। राजाने विहारके महास्थविरसे परामर्श किया और ठहरा कि उस दाँतकी रक्षा देशमें न हो सकेगी, उसे विदेश भेजना ही उचित होगा।

लंकाका आकर्षण बड़ा था। सदियों पहले अशोकके बेटे-बेटी महेन्द्र और संघमित्राने वहाँ सद्धर्मका विस्तार किया था, गयाके बोधिवृक्षकी एक टहनी लगाई थी जो अब विशाल अश्वत्थ हो गया था। राजा और महास्थविरने निश्चय किया कि दाँत लंका भेज दिया जाय। पर दाँत लंका भेजना कुछ आसान न था। कौन ले जाय दाँत लंका? कैसे जाय वह वहाँ?

राजाकी कन्याको संघमित्राकी याद आई। उसकी काया सद्धर्मके इस रत्नकी रक्षाके लिए तत्पर हुई। वणिकोंसे भरे लंकागामी पोतके एक तलेमें राजकन्या अपने केशोंमें वह महाधन छिपाये पैठी और एक दिन जब लंकाकी राजधानीके नर-नारी सो रहे थे, कलिङ्गकी उस राजकन्याने भगवान्‌के उस दाँतको सागर पार लंकाकी भूमिपर उतार दिया। वह साल ३०५ ईसवीका था, उस दाँतके, लंकाके, बौद्ध धर्मके इतिहासमें अनोखा।

पर दाँतका संक्रमण अभी पूरा न हुआ था। उसके पाँव लंकासे फिर उठे, हजार वर्ष बाद। १३०० ईसवीमें तामिलोंने लंकापर आक्रमण किया और तामिल राजा द्वारा तथागतका वह दाँत फिर भारत आया। पर दाँत वह भारतमें रह न सका। दक्षिण भारत और लंकामें शक्ति और विजयके लिए तब कशमकश हो रही थी और बार-बार वह दाँत दोनों देशोंकी सन्धियोंकी शर्त बना।

लंकामें चौदहवीं सदीके आरम्भमें पराक्रमबाहुका प्रताप चमका और द्रविड़राजसे उसने तथागतका वह दाँत छीन लिया। अब वह फिर लंका पहुँचा, समुन्दर पार, पुलस्त्यपुर। जिस मन्दिरमें वह दाँत तब पधराया गया वह आज भी पोलन्नासव नगरके एक भागमें भग्नावस्थामें खड़ा है।

पर उस नगरके उस जीर्ण मन्दिरमें वह दाँत अब नहीं है। दो सौ वर्ष बाद वह दाँत पुर्तगालियोंके हाथ लग गया।

पुर्तगाली पादड़ी तब आजकेसे अकिंचन न थे, अपनी सेनाकी वे हरावल थे। स्पेनमें 'इन्क्विज़िशन' नामक जिस भयानक धर्म संस्थाने कभी भीषण नरयज्ञ किये थे उसके उत्तराधिकारी यही पुर्तगाली पादड़ी थे। तलवार और आग इनके सहायक थे, यन्त्रणा और पाश इनके धर्म-प्रतीक! पूर्वी देशोंके सारे तटोंकी भूमि इन्होंने रक्तसे लाल कर दी; भस्मसे काली। इनके अत्याचारसे सागरतटीय जनता सर्वत्र त्राहि! त्राहि! करने लगी थी। लंकाके नर-नारी भी इनके ज़ुल्मसे तबाह हो उठे।

इन्हीं पुर्तगालियोंके हाथ एक दिन तथागतका वह दाँत लग गया। पुलस्त्यपुरकी वह स्वर्ण-पिटारी फिर उसकी रक्षा नहीं कर सकी। लंकासे तब वह दाँत फिर गोआ आया, जो तबसे आजतक पुर्तगाली सरकारका प्रधान केन्द्र रहा है।

ब्रह्मामें पेगूके राजाको उस दाँतकी ललक लगी और उसने पुर्तगालियों-के लिए अपना चिरकालसे संचित धन-भण्डार खोल दिया। पर पुर्तगाली पादड़ी उस धनपर न रीझे। किसी मूल्यपर वे दाँत बेंचनेको राजी न हुए। संसारके भिक्षु तड़प उठे। लंका, भारत, बर्मा, स्याम तत्पर हो पुर्तगालियों-से दाँत छीन लेनेके उपाय सोचने लगे। दाँतको हस्तगत करनेके लिए षड्यन्त्रोंकी धूम मच गयी।

अब जब पुर्तगालियोंने देखा कि यद्यपि समुद्रकी लड़ाईमें उन्हें जीत सकना शत्रुओंके लिए सम्भव नहीं है, कुछ अजब नहीं जो उनका षड्यन्त्र

फल जाय और इसलिए उन्होंने दाँतको नष्ट कर देनेका निश्चय किया। बौद्ध संसारमें हाहाकार मच गया।

और एक दिन गोआके पादड़ियोंने पुर्तगाली सरकारकी छायामें उस दाँतको जला डाला। उसका भस्म स्वयं पुर्तगाली गवर्नरने गोआके समुद्रमें अपनी आँखोंके सामने डलवा दिया। भस्म सागरकी लहरोंमें लुप्त हो गया। तथागतके उस दाँतकी इहलीला भी दो हज़ार साल बाद समाप्त हो गई!

पर नहीं, षड्यन्त्र फल गये। लंकाके भिक्षु सफल हुए। गोआके सरकारी ख़जानेसे, पुर्तगाली गारदकी रक्षासे, उसकी तोपोंके पीछेसे, पादड़ियोंकी सतत जागरूक आँखोंके नीचेसे एक दिन वह दाँत गायब हो गया। पुर्तगाल सरकारने, उसके सैनिकों-तोपचियोंने, पादड़ियोंने न जाना कि वह दाँत उसके हाथसे निकल गया, कि जो बचा है वह असली नहीं नकली है।

और एक दिन वह दाँत चुपचाप लंकाके राजा विक्रमबाहु चतुर्थके दरबारमें जा पहुँचा। वह १५६६ का साल था। राजाने सिर-आँखोंपर उसे लिया। काण्डीमें उसके लिए उसने मन्दिर बनवाया जिसके कंगूरे पर्वतकी चोटीपर काण्डी नगरमें बोलाम्बर झीलके जलमें झिलमिलाने लगे। उसी मन्दिरमें तथागतका वह दाँत अन्तमें सुरक्षित हुआ जिसने अपने अबतकके इस ढाई हज़ार सालके जीवनमें भारत और लंकाके बीच अनेक यात्राएँ कीं, अनेक उलट-फेर देखे, युद्ध देखे।

वैशालीकी गणिका

उत्तर बिहारके जिला मुजफ्फरपुरमें, जहाँ आज बसाढ़ गाँव है, वहीं कभी सम्राट् अजातशत्रुसे टक्कर लेने वाले वज्जियोंके प्रबल संघकी राजधानी वैशाली थी। वैशालीका वैभव मिथिला और पावासे, कुसीनारा और कपिलवस्तुसे कहीं बड़ा था। उसके मानधनी, रूपधनी, जनधनी नागरिकोंके ऐश्वर्य और विलासकी कहानी जनपदोंमें कही जाती थी, गाई जाती थी।

उसी वैशालीके लिच्छवि-कुमार जब अपने अभिराम दुकूलोंमें सजे आभरणोंसे दमकते रथोंपर चढ़े भगवान् बुद्धके दर्शनोंको चले, तब भगवान्ने अपने भिक्षुओंको पुकारकर कहा था—"देखो भिक्खुओ, देखो—स्वर्गके तैंतीस देवताओंको जो तुमने अपनी अन्तर्दृष्टिसे अब तक न देखा हो तो, भिक्खुओ, उन्हें अब देखो। इन लिच्छवियोंको देखकर उन्हें जानो, साक्षात् देखो उन्हें, सशरीर देखो।"

उसी वैशालीकी, उसके विलास बोझिल सौरभकी, उसके राग-मदिर लिच्छवियोंकी, उसकी भुवन-मोहिनी गणिका आम्रपालीकी कथा है यह, इतिहासमें अनुपम, जीवनमें अभिराम, विरागमें अभिनव।

तब वैशाली केवल लिच्छवियोंकी थी, मात्र उनकी। उन्हीं लिच्छवियोंमें लक्ष्मीका लाड़ला वह महानाम था जिसके धनकी कथाएँ गंगा, सदानीरा और बागमतीकी धाराएँ कहतीं, जिसके विलासके काननमें मदनके पाँचों बाण शिथिल हो गये। उसी महानामकी एक कन्या थी, आम्रपाली।

आम्रपाली बढ़ चली, शैशवसे कैशोरकी ओर, और कैशोरसे यौवनकी ओर, पोरपर पोर खोलती। और तब मनस्विनी रति वैशालीके प्रमद-

वनोंसे विरक्त हो गई जब उसने उनके पारिजातोंपर, वकुल और मन्दारों-पर, आमोंपर उस नवयौवनकी मदिर छाया डोलती देखी।

आम्रपालीकी लोनी कायामें छबि छलकी तब मानवकी गति बन गई। नागरिकाओंकी अलकोंके फूल मुरझा गये, उनके स्निग्ध कुन्तल रूखे हो गये, कजरारे उपान्त सूने। उनके सजन खो गये, रनिवासोंकी रागिनियाँ मूक हो गईं।

वैशालीका राग अब प्रमदवनोंसे, रनिवासोंसे महानामके महलोंकी ओर बह चला, जहाँ आम्रपालीकी घनी भौहोंकी छायामें थके मन्मथके धनुषने अवकाश लिया था, जहाँ उसके अलसाये नयनोंमें ममताके डोरे बिछे थे। वहीं वैशालीके तरुण मँडराने लगे, वहीं उनके गुरुजन अपने मोहपर आचारका आवरण डाले ललचाये डोलने लगे।

उस अपनी अलबेली कन्याके लिए महानामने दूर देशोंमें ब्राह्मण भेजे, कुशल चर, चतुर चेरियाँ भेजीं कि आम्रपालीके अनुकूल वर मिले, कि उसकी मंजरीसे कोई सुभाग अपनी अंजली, अपनी नासा भर ले।

पर जब बौराये आमोंकी मंजरी अपना कोष खोल देती है तब क्या अपनी ही रजको वह अपनी सुरभिकी गाँठोंमें बाँध पाती है? तब क्या उसकी झरती पराग अंजलीमें बँध पाती है? एकाकी नासाकी परिधिमें घिर पाती है? न घिर पाई वह सुरभि नासापुटोंमें, अंजलीमें वह न बँध पाई। मंजरीके कषायरससे बौराये कोकिल कूक उठे, भौंरोंकी गूँज गहरा उठी।

देश-विदेशके विलासी भाव-रागके धनी, मतिमान, गायक, कवि, प्रताप और ऐश्वर्यके दर्पसे झूमते राजा, धनसे विख्यात दानके जसी सेठ आये, उन्होंने महानामकी अनुनय की, आम्रपालीका प्रसाद माँगा, पर न तो महानाम पसीजा न आम्रपाली रीझी। वैशाली हँसती रही बाहरसे आये उन चँवरोंपर, धवल छत्रोंपर, रथों-पालकियोंपर।

क्या करे महानाम अब जब कन्याका यौवन सर्प-सा छत्र उठाये विष-

जिह्वा लपलपाता उसे डँसने लगा था। जा पहुँचा वह लिच्छवि-गणके संथागारमें। सात हज़ार सात सौ सात लिच्छवि कुलोंका, कुलागत राजाओं-का गण था वह। महानामने कन्याको गणके सम्मुख ला खड़ा किया, बोला—महानामकी कन्या है यह आम्रपाली। गण इसका भावी सोचे, इसका भविष्य विचारे। गण किनारोंकी मर्यादासे उचकती नदीकी भाँति इस कन्याका विधान करे, इसके लिए योग्य वर दे। आतुर याचकोंसे वैशाली भरी है, गण विचार करे, गण विधान करे, गण कन्याका मंगल करे!

और कन्या संथागारके भद्रासनपर कटिपर दोनों कर टेके खड़ी थी, छबिकी लौ-सी कनक रुचिर वह काम-काया। वातायनोंसे छनकर आती बयार उसके कुन्तलोंको, केशपट्टसे बँधे होनेपर भी, छेड़-छेड़ उड़ा रही थी। पलकोंकी कजरारी विपुल छायामें कानोंतक फैले उपान्तोंकी कोरें बाल-सी महीन हो गई थीं। कलाइयोंपर वलय कसे थे, भुजाओंपर भुज-बन्द; कानोंमें बालियाँ डोल रही थीं, अंशुकसे आबद्ध कुच उचक रहे थे, जैसे खिझे कपोतपर मारकर उड़ जायेंगे। और उनपर पड़ी एकावलीका निचला सिरा क्षीण कटिके नीचे लहराती त्रिवलीको छूती थी। और नीचे पीन-जघनोंसे सटी धोतीकी छोरें पैरोंके बीच त्रिकोणाकार हो भद्रासनको चूम रही थीं। आम्रपालीका कोमिल तीखा चिबुक मस्तककी मुद्रासे तनिक आगे ऊँचा उठ आया था, भरे रक्तिम अधरोंपर स्मित हासकी रेखा खेल रही थी। महानामकी आँखें मस्तकके साथ झुक गई थीं, दण्डधरोंके पसीने छूट रहे थे, गणराजाओंके मर्मको नाग डँस रहा था।

गणकी गुप्त मन्त्रणा शुरू हुई। गणने विधान किया—आम्रपाली 'स्त्रीरत्न' है, गणकी! एकजाई सम्पत्ति, एकाकी प्रभुत्वसे ऊपर! परम्परा-के अनुसार महानाम उसे गणको सौंप दें!

परम्पराके अनुसार महानामने आम्रपालीको गणको सौंप दिया। वैशालीकी वह सबसे आकर्षक लावण्यवती सुन्दरी थी। परम्पराके अनुसार

वह गणिका बनी, गणकी भोग्या, जिसपर गणके सभी जनोंका समवेत अधिकार हुआ। पतिके एकजनीन अधिकारसे वह वंचित रही। हालके खिले कुसुमकी भाँति उसपर तितलियाँ मँडराने लगीं, भ्रमर गुंजारने लगे, निर्बन्ध, यथेच्छ, क्रूर।

एकान्त अमराइयोंकी सीमापर आम्रपालीका गणिका-प्रासाद बनने लगा। प्रकोष्ठपर प्रकोष्ठ चढ़े, अलिन्दपर अलिन्द लटके, शिखर बादलोंमें खो गया। तब चितेरे तूलिका और लम्बकुर्च लिये भवनकी भित्तियोंपर भाव-चित्र लिखने चले। गणिकाने उनसे कहा, देखो, तुम देश-देशसे आये हो, देश-देशमें तुमने चित्र लिखे हैं, देश-देशमें राजा, सेठ और श्रीमान् देखे हैं, उन सबकी आकृतियाँ लिखो, आकार चेष्टाएँ लिखो!

चितेरोंने चित्र लिख दिये, अभिराम मर्महर चित्र, सजीव और कोमल, रुचिर और प्रणय-निष्ठुर! रमणागारकी दीवारें बोलती, झिझकती, रागाकुल आकृतियोंसे उमँग उठीं। भारी पर्यंककी दीवारोंसे काम-विकल अलसाई चेष्टाएँ उचकने लगीं। सरोवरोंके बीच कमलवनको रौंदता मदान्ध गजराज हथिनियोंके साथ गुंजलक भरती सूँड़से, पार्श्वसे, पैरोंसे परसने लगा। हथिनियाँ पद्मसुरभिसे बसे जलको सूँड़में ले, क्षणभर उससे अपना अन्तर भर मर्मस्थ बना गजराजपर उसका फव्वारा छोड़-छोड़ उसे नहलाने लगीं। भौंरा समान कुसुम-चषकसे पुष्प-मदिरा प्रिया भौंरीको पिला स्वयं जूठी पीने लगा। चकवा कमलका कोमल बिस पहले स्वयं चख-चख चकवीको चखाने लगा। कामवाहन तोते नीवि-बन्धपर निर्मम चंचु-प्रहार करने लगे। विलगता मृग दूरसे लौट-लौट विरहिणी प्रियाको देखने लगा, प्रिया अधकुचला दर्भ मुँहसे गिराती कर्णायत पलकोंको उठाये चितचोर प्रियको देखती रही, देखती रही। कामुक कपोत गुटर-गूँ करते कपोतियोंको छेड़ते, उनका पीछा करते और रोम-रोम काँपती कपोतियाँ उन्हींसे भाग फिर उन्हींके पंखोंके नीचे आश्रय लेतीं। प्रणयी संकेतस्थानकी कुसुमशय्याओं-पर अभिसारिकाओंके नीवि-बन्ध आतुर करोंसे खोलने लगे।

गणिकाका काम-भवन फैली शाद्वल भूमिमें दीर्घिकाओंकी परिखासे खिले पद्म-सा लगता। प्रमदवनकी झुरमुटोंसे केकी फटी वाणीसे प्रियाओंको पुकारने लगे, पंजरस्थ शुक-सारिकाएँ निकुंजोंमें रमते मानव जोड़ोंकी केलिसे चुराये वाक्योंको दुहरा-दुहरा सुनने वालोंके मर्म बेधने लगीं। मूक चित्रोंकी भाव-सम्पदा देखने वालोंको बरबस राग बन्धकी ओर खींचने लगीं। आम्र-पालीका संस्कृत उदार मन वैशालीके उस कामभवनमें देश-विदेशसे पधारे ग्राहकोंको अपने राग-कोषके द्वार खोल निहाल कर देता और गणिका उनसे पाई स्वर्णराशि दासियोंकी ओर सरका देती। अपने आचार्योंकी आशाएँ उसने पूरी कर दीं। उसका मायावी तन कृत्रिम औदार्यसे, प्रसन्न चेष्टासे, प्रणयियोंके सामने पर्यंकपर लेट जाता, पर उसका मानस रमणागारसे परे सरक जाता, उसका मन उसकी कायाकी परिधिमें न बँध पाया।

पर एक दिन वही मन मूक चित्रके मोहसे बँध गया। पर्यंकके पाय-तानेकी दीवारपर एक उन्मुख मस्तक चिता था। आम्रपालीने उसे युग भर निहारा था। पहले उसने उसकी ओर विशेष ध्यान न दिया था, उसे भी उसने चित्रधारामें प्रवहमान एक साधारण उद्दीपन माना था, पर बार-बार जब वही मस्तक अपनी कोमल भाव-साधनासे उसे निहारने लगा तब गणिकाने उसे विशेष कौतुकसे देखा।

पर कौतुक मात्र कौतुक न रह सका। शीघ्र वह कुतूहलमें बदल गया और गणिकाका निर्बन्ध मन पहली बार मोहके जालमें जा बँधा। रहस्य जानना चाहा उसने उस भुवनमोहन मस्तकका, उसके कोमल मूक मनका भेद! वह उसे विरामके क्षणोंमें हेरती, पाकर निहारने लगती। थकी काया जैसे उसके स्निग्ध अवलोकनसे सद्यःस्नानकी ताज़गी पाती, अभितृप्त हो जाती।

पर उस मस्तकको केवल निहारकर ही कुतूहलकी प्यास अब न मिटती। जिसे जागृतिके दर्शनमें, सुषुप्तिके स्वप्नमें, मनके सूनेमें अविराम देखा था उसका जादू धीरे-धीरे आम्रपालीके अन्तरपर क़ाबू कर चला।

धीरे ही धीरे उसने जाना वह मस्तक न केवल उसके व्यवसायका मात्र मूक साक्षी है वरन् स्वयं उसके एकाकी मनका सहचर है, सदाका परिचित आत्मीय है, और उसका साधुमन उसी कमनीय मस्तकके परसनेको ललक उठा ।

पर मस्तक वह मात्र राग और रेखाओंका था, यद्यपि आम्रपालिकाको लगा कि ऐसा मस्तक निश्चय मात्र राग और रेखाओंका नहीं होता, निःसन्देह चितेरेने अनुकार्यकी नकल की है । और उसने अपने भित्तिचित्रोंके चितेरोंको बुला भेजा । चितेरे आये पर वह न आया जिसने वह मस्तक लिखा था । वायुकी तरह निर्द्वन्द्व गतिमान चितेरा कामकी खोजमें देशान्तर चला गया था ।

गणिकाके चरोंने एक दिन उसका पता पा लिया, एक दिन वे उसे गणिकाके पास बुला लाये । गणिकाने जाना कि मस्तक वह मगधराज बिम्बिसारका है । उसने और भी जाना कि नवनिर्मित राजगृहके शयनागारमें सामनेकी दीवारपर उसी चित्रकारने एक नारी मस्तक उसी चेष्टामें लिखा है और उसे भी बिम्बिसार उसी मोहसे निहारा करता है जिस मोहसे आम्रपाली उसके मस्तकको अपने रमणागारमें निहारती है ।

दोनोंने दोनोंको जाना । शत्रु लिच्छवियोंकी राजधानीमें आम्रपालीके भवनमें बिम्बिसार एक दिन वेष बदलकर जा पहुँचा और आम्रपालीने उसे अपने तनको मनकी परिधिसे बाँधकर सौंप दिया । नौ महीने बाद अभयकुमारकी शिशुवाणी आम्रपालीके काम-भवनकी शुक-सारिकाओंने दोहराई, गणिकाका व्यवसाय विरमा ।

आम्रपालीने वेलुवनमें सौम्य तथागतके शान्त वचन सुने । उसके भीतरका कोलाहल थम गया । सुगतकी वह उपासिका बनी । उसने सुगतको अपने भवनमें भिक्षा ग्रहणके लिए ससंघ आमन्त्रित किया । सुगतने मौनद्वारा उसका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया । लिच्छविकुमारोंने आम्रपालीका आमन्त्रण विफल करनेकी हजार चेष्टा की पर उनकी अनुनय

सुगतने न सुनी और आम्रपालीने लिच्छविकुमारोंके रथोंके बराबर विजयसे पुलकित हो अपना रथ हाँका।

और उसके आम्रकाननमें पंचशीलके नियम व्यापक हुए। अबतक आम्रपाली गणकी थी अब उसने अपने मनको कंगलोंकी सेवामें लगाया। एक सार्वजनिक अनुष्ठानसे दूसरे सार्वजनिक अनुष्ठानकी ओर उसकी प्रगति हुई। विलासने अवकाश लिया, लोक-क्षेम उसकी साँसोंमें बसा। लिच्छविकुमार पहले उसके रूपके मारे हो थे अब वे उसके धर्माग्रहकी ईर्ष्यामें भी जल मरे।

जो झुका नहीं

मोरचा झेलमके तटपर था, हिन्दुस्तान और मकदूनियाका पहला मोरचा। गागामेलाके मैदानमें जो ईरानी साम्राज्यके टखने टूटे तो मकदूनियाके मन्सूबोंकी कोई हद न रही। सिकन्दर और उसके सरदारोंने दाराके खानदानको खत्म कर डाला। दाराके शहजादोंने बाख्त्रीमें शरण ली थी, हिन्दूकुशकी तराइयोंसे निकलकर सिकन्दरने आमू लांघ उन्हें बरबाद कर दिया।

फिर जो वह लौटा और हिन्दुस्तानको उसने हिन्दूकुशकी ऊंचाइयोंसे देखा, तो उसके मुँहमें पानी भर आया। पर कन्धारियोंने जो उससे लोहा लिया था उससे ज़ाहिर भी हो गया था कि आगेका मैदान गागामेलाका नहीं है। आगे बढ़ते ही उन अश्वकों (अफ़गानों) ने उसकी राह रोकी जिन्हें आजतक कोई ग़ुलाम नहीं बना सका।

मस्सगका दुर्ग अगला मोर्चा बना। जमकर जंग हुआ। जुझाऊ लड़ाईमें राजाको तीर लगा और सिकन्दरके पव बारह हुए। दुर्गमें सात हज़ार हिन्दुस्तानी सिपाही थे जो अफ़गानियोंकी मददको आये थे। सिकन्दरने उन्हें वचन दिया—'निकल जाओ, तुम्हें कोई नहीं छुयेगा।' युद्धजीवी निकले, अपनी सीमाकी ओर चले। तभी सिकन्दरने उनपर हमला किया। उन्होंने अपनी बात तोड़नेके लिए उसे धिक्कारा।

उसने कहा—'तुम्हें क़िलेसे निकल जानेकी बात मैंने कही थी। सदा दोस्ती निबाहनेके लिए नहीं।' फिर निर्भीकतासे लड़ता हुआ एक-एक भारतीय वीर मारा गया। मर्दोंके मरते ही औरतें सामने आईं और ग्रीसकी सेनाने ज़नानी फ़ौज़से मोर्चा लिया। भीषण युद्धमें एक-एक नारी-सैनिकने वीरगति पाई। इतिहासकार दियोदोरसने इन आज़ादीकी दीवानी औरतोंको

लेखनीसे अमर कर दिया ! प्लूतार्चने लिखा—'सिकन्दरके जंगी यशपर यह अपयशका गहरा स्याह धब्बा था, जो कभी धुल न सका ।'

पर असली मोर्चा झेलमके तटपर था। झेलमकी राह भी खुली थी। तक्षशिलानरेश कायर आम्भीने भारतका सिंहद्वार विजेताके सामने खोल दिया था। झेलम पार दोआबका स्वामी था राजा पुरु जो अपनी मुट्ठी भर सेना लिये खड़ा था। तीन हज़ार घुड़सवार, हज़ार रथ, सवा सौ हाँथी, कुछ हजार पैदल खड़े थे। संसारकी चुनी हुई सेनाके सामने—योरप, अफ्रीका, एशियाकी सेनाके। ग्यारह हजार घुड़सवारोंके साथ खुद सिकन्दरने रातके अँधियारे और बरसतेमें राह चुराई थी। क्रातेरस, मिलीगर और अनेक-अनेक ग्रीक सरदार हजारों-हज़ारों चुने सैनिक लिये इस पार चौकन्ने खड़े थे कि सिकन्दर हमला करे और यह मौक़ा पाते ही नदी पार कर दुश्मन पर टूट पड़े।

बिजली जो चमकी तो शत्रुकी दुरभिसन्धि पुरुपर प्रगट हो गई। उसने जाना कि दुश्मन नदी पार कर आया। दो हज़ार पैदलों और सौ रथोंके साथ उसने बेटेको भेजा। अन्जाम उसे मालूम था। कहाँ दो हज़ार पैदल, कहाँ चुने हुए ग्यारह हज़ार घुड़सवार ! जगत् प्रसिद्ध ग्रीक फैलेंक्स जिनका संचालन संसारका सबसे बड़ा जनरल कर रहा था। जूझ गया बेटा, अपने दो हज़ार शहीदोंके साथ।

बाप आगे बढ़ा, झेलम-तटवर्ती ज़िलोंका स्वामी राजा पुरु आगे सरका। मिस्र और ईरानी सम्राज्यके विजेताके सामने झेलम और चिनावके दोआबके एक टुकड़ेका ज़मींदार अपनी बेख़ौफ़ फ़ौज लिये खड़ा था। बेटेकी मौत सुन वह आगे बढ़ा। सिकन्दरकी सेना इस छोटी कुमकको देख तेज़ीसे आगे सरकी। पर जब आमना-सामना हुआ तब सहसा सिकन्दरने अपने घोड़ेकी बाग रोक दी। ग्रीक रिसालेकी गति रुक गई और सहसा जो उस विश्वविजेताके मुँहसे उद्‌गार निकला, उसने पुरुके यशमें चारचाँद

लगा दिये। 'आखिर वह खतरा सामने है', सिकन्दर बोला, 'जो मेरी हिम्मतको ललकारता है। आजका जंग बनैले जन्तुओंसे है, बांके लड़ाकोंसे, ग़ज़बके इन्सानोंसे।'

मकदूनियाके रिसालोंने अपना भीषण हमला किया। चोट बाज़ूपर थी, पुरुके वीरोंने उसे घूमकर अपने सीनोंपर लिया। बाज़ू चकनाचूर हो गया। एक-एक घुड़सवारपर पाँच-पाँच ग्रीक सैनिक थे। भारतीय वीर अपनी जगहसे हिले नहीं, यद्यपि वहीं उनकी जान निकल गई। दिनके आठवें पहर तक घमासान युद्ध चलता रहा। शहीद होते भारतीयोंकी पेशानीपर बल न पड़ा। पैदल और सवार, गजसेना और रथ सभी जूझ रहे थे।

पुरुकी शक्ति वस्तुतः रथोंमें थी। भारतीय रथको चार-चार घोड़े खींचते थे, उसपर छह–छह सैनिक सवार होते थे। दो ढाल धारण करते थे, रथके दोनों ओर दो-दो धनुर्धर खड़े होते थे और दो सारथी, जो बढ़ते रथका संचालन करते थे। पर जब लड़ाई जम जाती तब वे रास अंकुशमें टिका ग़ज़बकी मार करने लगते, शत्रुपर तीर बरसाने लगते। पर आजकी लड़ाईमें रथ न केवल वेकार हो गये वरन् उन्हींके कारण दुश्मनकी गोटी लाल हो गई। मौसम आड़े आया। रात-दिन जो मेंह बरसता रहा था, उसने केवल सिकन्दरको नदी पार करनेमें मदद नहीं की, जमीन भी उससे बड़ी रपटीली हो गई थी। रथके घोड़े फिसल पड़ते थे, रथके पहिये कीचड़में आधे-आधे धँस जाते थे। उनका वज़न भारी था फलतः धँस जाना स्वाभाविक था। तीरन्दाज जमीनपर कमानका निचला सिरा टिका लम्बे तीर छोड़ा करते थे, अब जमीन रपटीली हो जानेसे उनके सिरे टिक नहीं पाते थे।

उधर हाथी भी बुरी तरह भड़के। ग्रीक धुनर्धरोंने जम कर उन्हें घायल किया। निशाना उनकी आँखोंको ही बनाया, फिर उन पर फरसे लेकर पिल पड़े। अब जो भेड़ोंकी तरह भभर कर हाथी भागे तो अपने ही सवारोंको उन्होंने कुचल दिया, दुश्मनसे ज्यादा अपनी ही सेनाको क्षति

पहुँचाई । पर जीत कर भी सिकन्दरने जाना कि झेलम-तटका यह करीका मैदान गागामेलाका मैदान नहीं और पुरु भी दारा नहीं है ।

पुरु निश्चय ही दारा नहीं था । बेटेके जूझ जानेपर आठ पहर तक उसने जमकर लड़ाई की थी । बाणपर बाण बरसाये थे । नौ-नौ संगीन चोटोंके बावजूद वह अपनी जगह खड़ा रहा था । बदनसे लहू बहुत निकल जानेपर चोटसे जर्जर अपनी जगह खड़े रहने तकका ताव जब उसमें न रहा तब कहीं शत्रु उसे पा सका । और तब, जिस निर्भीकतासे उसने शत्रुके सवालोंका जवाब दिया इतिहासमें उसका सानी नहीं ।

खूनसे लथपथ, श्रमसे थका जब वह सिकन्दरके सामने लाया गया तब विजेता उसकी ऊँचाई देख दंग रह गया । उसने अपने चारों ओर नज़र फेंकी तो देखा कि ग्रीकोंमें कोई उतना ऊँचा न था, न सैनिक न सरदार । उसकी दिलेरीमें ज़रा फ़र्क नहीं पड़ा था और सिकन्दरके सामने मस्तक उठाये वह वैसे ही पहुँचा जैसे ताक़तकी आजमाइशके बाद एक जवाँमर्द दूसरे जवाँमर्दसे मिलता है ।

और सिकन्दरके सवालका जो उसने जवाब दिया, वो तो बेमिसाल है । सिकन्दरने पूछा—"तुम्हारे साथ व्यवहार कैसा किया जाय ?"

पुरुने तत्काल उत्तर दिया—"जैसा राजा राजाके साथ करता है !"

सिकन्दरकी बेबसी

व्यास नदीके किनारे यूनानियोंने हथियार डाल दिये। सेना अब आगे बढ़नेको तैयार न थी। कहते हैं कि पिछले तीन सालोंमें मकदूनिया और यूनानकी सेनाओंने बहुत-कुछ झेला था। दिन-रातकी लड़ाई, घरसे रोज़ बढ़ती हुई दूरी, दुश्मनोंके बढ़ते हुए आलमकी गहराई। आख़िर लड़नेकी भी तो कोई हद होती है, महत्त्वाकांक्षाकी भी कोई सीमा।

घर छूटा, परिवार छूटा, हीत मित्र छूटे और राहमें साथी लड़ाइयोंमें खेत रहे। कपड़े फट चुके थे, स्वदेशसे उनका आना कठिन था, लूटका जीवन भी अब यूनानी सैनिकोंको नहीं भरमा पाया। व्यासके तटपर उन्होंने हथियार डाल दिये, बग़ावत कर दी। अब आगे न बढ़नेका फ़ैसला कर लिया।

आगे बढ़ना कुछ खेल था भी नहीं। आगे मगधका राजा नन्द अपनी विजयवाहिनी लिये खड़ा था—नन्द, जिसने देशके सारे क्षत्रियोंका नाश कर शूद्र-राज्यकी नींव डाली, जिसने भारतका पहला ऐतिहासिक साम्राज्य स्थापित किया था, जिसकी सेना अपार थी। ख़बरें आती रहती थीं, कुछ सच्ची, कुछ झूठी पर ऐसी ख़बरें जिन्होंने सिकन्दरकी सेनाके दिल हिला दिये थे। हिन्दुस्तानमें उस सेनाने एक नई मरदानगी देखी थी। देखा कि यह नई मरदानगी हिन्दुस्तानकी अपनी थी, अपनी मरदानगीसे भिन्न, ईरानी-बलख़ी मरदानगीसे भिन्न, क़न्दहारी-ख़ुरासानीसे भिन्न। पुरुने दो-तीन हज़ार घुड़सवारोंके साथ बीसों हज़ार यूनानी रिसालोंके ख़िलाफ़ करीमें मोरचा बनाया था। कठोंने संगलमें उन्हें जो चने चबवाये वे लोहेके थे और यदि राजा पुरु अपनी सेना लिये स्वयं सिकन्दरकी मददको न आ जाता तो कठोंकी मारसे यूनानियोंकी जो गति होती वह उनसे छिपी

न थी। चप्पे-चप्पे ज़मीनके लिए जिस प्रकार भारतीय अपना ख़ून बहा रहे थे, उससे विदेशियोंने जाना कि आगे की दुनिया और कठिन है, उसको सर करना कुछ आसान नहीं। उन्होंने जो मगधराजकी भीषणता, उसकी सेनाकी विपुलता और शक्तिकी बात सुनी तो उनके तलवोंसे पसीना छूटने लगा। न यशकी तृष्णा, न लूटकी उम्मीद उन्हें अपने इरादेसे हटा सकी। यूनानी सैनिक बेक़ाबू हो गये।

सिकन्दरने उन्हें लाख समझाया, उनकी विजयोंकी याद दिलाई, हार-का ख़ौफ सामने रखा, अपजसका डर दिखाया, पर वे टस-से-मस न हुए। उनका रोना-चीख़ना और बढ़ गया। व्यासकी धारामें यूनानी सरदारोंके आँसू मिलने लगे, क्योंकि अधिकतर सरदारोंने सेनाका साथ दिया। सिकन्दरके खबरोंके झूठा बतानेपर कोइनासने कहा—"कुछ अजब नहीं, सिकन्दर, कि यह ख़बरें कुछ अंशमें झूठी हों, पर उनकी झुठाईके बीचसे ही जिस सचाईका आभास मिलता है, वह स्वयं उस विपुल विपद्की ओर संकेत करता है जिससे बच पाना असम्भव हो जायगा।" क्रोधके मारे सिकन्दर जलभुन गया। उसने अपनेको शिविरमें बन्द कर रखा, अपनी फ़ौजको, अपने सरदारोंको उसने दिनों शक्ल तक न दिखाई, जैसे मातम मना रहा हो। पर दिल किसीका न पसीजा, न सेनाका, न सरदारोंका। सिकन्दरकी तलवार, उसका क्रोध, उसका गिड़गिड़ाना कुछ भी सफल न हुआ। शिविरसे जो वह बाहर निकला तो स्थिति उसने वही पाई, मायूसीकी।

पहले तो सिकन्दरने अपने सरदारों और सिपाहियोंके मनकी टोह ली, पर जब देखा कि हालत पहली-सी ही डर और सदमेसे भरी है, तब वह भड़क उठा। उसने दुश्मनोंके बीच अकेले पिल पड़नेकी धमकी दी। बोला—"छोड़ दो फिर मुझे नदियोंके ख़तरोंके सामने, हाथियोंके क्रोधका निशाना मुझे बन जाने दो और उन जातियोंका शिकार मुझको होने दो जिसका नाम मात्र तुम्हें भयसे आक्रांत कर रहा है। लौट जाओ तुम, मैं ऐसे

जवान ढूँढ़ लूँगा जो तुम्हारे बावजूद मेरा अनुसरण करेंगे।" पर उसका भी असर न हुआ। मकदूनियाकी फ़ौजोंने उस ख़तरेको साफ़ देखा, जिसकी ओर सिकन्दरने इशारा किया था, पर अपनी जान सरदारकी जानसे ज़्यादा प्यारी थी। अब उन्हें उसकी बाज़ी लगाना यक़ीनी मौतके सामने मंजूर न था।

बेबस सिकन्दरके मुँहसे आखिर निकल ही पड़ा—"मेरी आवाज़ बहरे कानोंपर पड़ती रही है। मैं उन दिलोंको ललकारता रहा हूँ जो बाग़ी हो गये हैं, जो डरसे कुचल गये हैं। जाओ, लौटो वतनको, पर याद रखो कि अपजसकी स्याही अपनी पीठपरसे धो न सकोगे, भूमध्यसागरका सारा जल उसे धो न सकेगा।"

यह सिकन्दरकी आखिरी कोशिश थी, जो बेकार हुई और उसने लाचार हो सेनाको लौटनेका हुक्म दे दिया। उस अगली लड़ाइयोंके डरसे छुटकारा पा जानेपर यूनानी सेनाकी ख़ुशीका ठिकाना न रहा। उस ख़ुशीमें जो जशन किये, खेल-कूदमें, गाने बजानेमें, नाच-रंगमें जो मस्ती दिखाई, उससे ज़ाहिर था कि उसे नई ज़िन्दगी मिली थी, नये ख़तरोंसे जान बची थी। व्यासकी लहरें और गम्भीर हो तटपर टूटने-बिखरने लगीं।

चाणक्यका भविष्य दर्शन

१

चाणक्य तब बालक था, छः वर्षका। पिताकी गोदमें बैठा हुआ था। ज्योतिषी सामने चला जा रहा था। पिता कई दिनोंसे उससे बालककी ग्रह-दशा देखनेको कह रहा था। नित्य ही वह उस राह निकलता, नित्य बालकका पिता उसे टोकता, बालककी हस्तरेखाएँ, उसकी ग्रहदशा देख उसका भविष्य बतलानेका अनुनय करता और नित्य ज्योतिषी बात सरका कर चला जाता।

पिताके पास दक्षिणाके लिए पैसे न थे और सारा फलित, सारा पौरोहित्य पैसोंपर ही टिका था। इधर घरकी अवस्था बिगड़ गयी थी। घरका यह बालक अकेली सन्तान था, समाप्त होती पीढ़ियोंका अन्तिम अंकुर और पिता उसीको देख ढाढ़स बाँधता था। कौन जाने, चणकका कुल इसी सन्तानके भाग्यसे समाप्त होता-होता बच जाय। पर उस स्थितिकी गणना तो केवल वह ज्योतिषी ही कर सकता था और वह अर्थहीन व्यापार करनेको राजी न था।

पर आज वह सहसा रुक गया। पिताने जब उसे बालककी हस्तरेखा देखनेको कहा तब ज्योतिषी क्षणभर रुका, उसने अपनी चुन्दी आँखें मिचमिचायीं, लम्बी बँधी शिखापर हाथ फेरा और चन्दनभरे ललाटकी रेखाओंको संकुचित करता बोला—"यजमान, बालककी हस्तरेखाएँ क्या देखूँ, उसकी तो वैसे ही भावी प्रबल दीखती है। जिसके दाँत ऊबड़-खाबड़ होते हैं वह बड़ा भाग्यवान् होता है। देखो, इसका वह सामनेका दाहिनेसे तीसरा

दाँत जो अपने बाँयें वालेपर चढ़ गया है इसके भाग्यको व्यर्थ न जाने देगा। निश्चय इसे महान् बनायेगा।"

पिता संतुष्ट उस दाँतकी ओर अभी देख ही रहा था कि बालक सहसा हिला। उसने ज्योतिषीकी ओर देखा फिर पूछा—"क्या कहा ? मुझे यह टेढ़ा दाँत महान् बनायेगा ? यह जड़ चेतनको महत्ता देगा ?" और झट वह पिताकी गोदसे गलीमें कूद पड़ा। उसने पड़ी ईंट उठा ली और उस टेढ़े बाहर निकले दाँतपर दे मारी। दूधका दाँत चोट पड़ते ही टूट गया। पिता और ज्योतिषी 'हाँ ! हाँ !' करते ही रह गये। बालकका मुँह रक्तसे भर गया। पर उसका व्यंग्य मुसकरा रहा था। पिता घबड़ाया हुआ था, ज्योतिषी चकित, बालक विजयसे उल्लसित।

उस जड़ टेढ़े दाँतका न होना उस अमनुजकर्मा चाणक्यकी महत्ताको कम न कर सका।

२

"नहीं, इसे समेट दूँगा। इस लड़कोंको पढ़ाने वाली वृत्तिसे देशका उपकार न होगा। तक्षशिलामें स्थानकी कमी नहीं, न आचार्योंकी। शास्त्रकी खोज करनेवाले जिज्ञासु अपना इष्ट वहाँ साधेंगे। मैं तो शास्त्रकी खोजमें चला।"

"पर भाई, बड़ी निष्ठा बड़े अध्यवसायसे तुमने इन दूरसे आये विद्यार्थियोंको एकत्र किया है। अपनी मेधाके लाभसे इन्हें वंचित न करो। और देखो, चाणक्य, तक्षशिला जैसे महान् पीठोंके मारे वैयक्तिक चरणोंको विद्यार्थी दुर्लभ हो गये हैं। तुम अपने छात्रसंकुल चरणको अकारण मत उठा दो।"

"वरुण, मैं नहीं समझता इससे देशका कल्याण होगा। और इन विद्यार्थियोंकी भीखसे मेरी अकेली काया पली या न पली, कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस युग भरकी मेरी निष्ठाने माना कुछ विद्यार्थी बटोर लिये हैं

जिन्हें अधिकसे अधिक गणराज्योंमें पुस्तपालका स्थान मिल जायेगा। और इन्हें तो तुम भी सम्हाल सकते हो, वरुण, तुम्हीं सम्हालो। तुम्हें इस कार्यमें रुचि भी है, इस शास्त्रमें आस्था भी। मैं तो इस चर्वितचर्वणसे ऊब उठा। बृहस्पति, उशना और भरद्वाजकी पद्धतिके परे भी जीवन है, जीवन जिसके दाँव-पेच आचार्योंके सिद्धान्तोंके आधार हैं। नहीं, वरुण, अब तुम इस मोहको झेलो, मैं तो इससे मुक्त हो चला। तुम चाहो तो इस शब्दजालको जीवित रखो।"

"और जाओगे कहाँ, चाणक्य?"

"जहाँ पच्छिमकी सारी राहें जाती हैं, बावेरुकी, परसपुरकी, उद्यानकी, उस प्राचीकी ओर, मगधके हृदय पाटलिपुत्रकी ओर।"

"जानता हूँ, चाणक्य, तुम्हारा लक्ष्य। पर आज फिर पूछता हूँ जिसे बार-बार पूछा है—क्या सचमुच इन गणराज्योंका एका कर कुछ वही नहीं किया जा सकता जिसका तुम स्वप्न देखा करते हो?"

"सुनो, वरुण। कभी वह आशा मुझे भी थी। मैं भी समझता था कि जो अपनी स्वतन्त्रता इतना महिमामय मानते हैं, जन-जनकी बराबरीका जिनमें इतना दावा है उन कठों-शिबिकोंको, मालव-क्षुद्रकोंको, यौधेयों-अम्बष्ठोंको एकत्र कर कुछ किया जा सकेगा। पर वह उनके रहते सम्भव नहीं दीखता। ये अकेले-अकेले वीर हैं, बलिदानी हैं, पर ये चौंकते तभी हैं जब इनके कोई हाथ लगाता है, इससे परे ये कुछ नहीं। ये आक्रांतासे लोहा ले सकते हैं पर अपनी सीमाओंके बाहर इनका कोई अध्यवसाय नहीं। इनको लीप कर ही कुछ किया जा सकेगा। दाराका आक्रमण अभी दो सौ साल ही पुराना हुआ। सारा सप्तसिंधु, समूचा पश्चिमी पंचनद, सम्पूर्ण सिन्ध देखते ही देखते इन परस्पर लड़ते अन्तर्मुख गणराज्योंकी अकर्मण्यतासे एक-एककर ईरानकी बढ़ती सीमाओंमें समा गये। दारा और क्षयार्षाने गणराज्योंकी वही दशा की जो उन्होंने यवनोंके नगर-राज्योंकी की थी। वह कहानी, मैं चाहता हूँ, फिर दुहरायी न जाय।"

"और तुम्हारा यह इष्ट ईरानी साम्राज्य है ?"

"नहीं, मेरा इष्ट यह ईरानी साम्राज्य नहीं है। यह दारा नामधारी समाट् अपने महान् पूर्वजका नामधारी मात्र है, और इसका यह जर्जर साम्राज्य तभी तक खड़ा है, जब तक कोई इसपर चोट नहीं करता। मेरा इष्ट इसके पूर्व दाराका साम्राज्य है और उसकी एकमात्र सम्भावना पूर्वमें है, मगधमें, पाटलिपुत्रमें। नन्द सारे क्षत्रियोंका नाश कर चुका है, उसकी सेना अपार है, साम्राज्यकी पहली बार उसने स्थापना की है। कौन जाने, वही हमारे स्वप्नोंका साधक बन जाय। फिर अगर वह आस उससे पूरी न हुई तो पहला संघर्ष उस शूद्रसे ही होगा। पहले वहीं क्रान्ति करनी होगी, और वरुण, क्रान्तिके लिए, शास्त्रीय-शस्त्रीय दोनों, पूर्वसे बढ़ कर जनपद नहीं हैं। विचारोंमें पंचालों–विदेहोंने कैकेयोंको कितना पीछे छोड़ दिया, बुद्ध जिनने समताकी आँधी बहा दो, शूद्रोंने आर्ष व्यवस्थाको उलट दिया। ये तीनों मुझे अप्रिय हैं, पर ये सिद्ध करते हैं कि पूर्वमें ज्वाला है जिसका उपयोग किया जा सकेगा। इसीलिए जा रहा हूँ, वरुण, कौन जाने ?"

"जाओ चाणक्य, जाओ न रोकूँगा। भविष्य पढ़ी पोथीकी भाँति तुम्हारे नेत्रपथमें खुल पड़ा है। जाओ, अपने स्वप्नको सत्य करो। मैं तुम्हारे इस चरणको यथासंभव नष्ट न होने दूँगा, यद्यपि जानता हूँ, इसका मोह भी तुम्हें नहीं है। यह निश्चय तुम्हारी आशाओंको रूप नहीं दे सका है और जो तुम्हारी आशाओंको रूप नहीं दे पाता उसका तुम्हारे यहाँ कुछ मूल्य नहीं। जाओ।"

"और एक बात कहता हूँ। तुमने ईरानी साम्राज्यकी बात उठायी है, सुनो, यवन नगर राज्योंको मकदूनियाका फ़िलिप नष्ट कर चुका है, अभी हाल। वह उन्हें जीत चुप बैठनेवाला नहीं है। अगर हुआ तो या तो वह कायर होगा या मूर्ख। पर जितना मेरे जाननेमें आया है, वह न तो कायर है न मूर्ख है। और यूनानमें ईरानी दाराके किये विध्वंसकी आग अभी लोगोंके दिलोंमें सुलग रही है। जिस किसीकी भी उधर शक्ति बढ़ी वह

एथेंसके विध्वंसका बदला लेने ईरानकी ओर बढ़ेगा। वैसे भी उधर विजयी हो जानेके बाद महत्त्वाकांक्षाकी पहली चोट पूर्वमें ईरानी साम्राज्यपर ही होगी। और जो हुई तो निमिष मात्रमें यह साम्राज्य चूर-चूर हो जायगा। फिर भारतकी सीमाएँ दूर नहीं, और हिन्दुकुश लाँघना सेनाओंके लिए कभी कठिन नहीं रहा। और जो कहीं पच्छिमकी आँधी हिन्दुकुश पार इधर बही तो जानो, इन गणराज्योंका वही हाल होगा जो यवन नगर राज्योंका हुआ। मगध मात्र आगे आशा है।''

और चाणक्य सिन्धु तट छोड़ पूरबकी ओर चला गया।

जब चाणक्यने सन्तोषसे आँखें बन्द कीं!

१

"भागो, मौर्य, भागो यहाँसे, मगधके क्रोधके तुम अब लक्ष्य हो गये। मैं तुम्हारी महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं जानता, पर यह जानता हूँ कि परिस्थितियोंने तुम्हें महत्ताके मार्गपर खड़ा कर दिया है। यदि तुममें वह चेतना न भी हो तो वह मार्ग पकड़ो और जानो कि उसके छोर तक पहुँचे विना तुम्हारा कल्याण नहीं।" चाणक्यने तरुण चन्द्रगुप्तसे स्नेहपूर्वक कहा। उसके साँवले शरीरपर पीत जनेऊ चमक रहा था। केश आधे पक चले थे। स्वभाव गम्भीर, मुखमण्डलकी चिन्ताद्योतक खड़ी रेखाएँ गहरी हो गयी थीं। परुष चेहरा कुछ नरम पड़ गया था।

"जाता हूँ आर्य। और यदि वही मार्ग मेरा है तो पीछे नहीं हटूँगा। आपका वरद हस्त मेरे माथेपर हुआ तो आगे बढ़ता ही जाऊँगा। इस नन्दसे आज भाग रहा हूँ पर आशा है शीघ्र लौटूँगा। आपका आशीर्वाद मेरा कवच होगा। पर अभी इसी नगरीमें रहूँगा। संभव है सुयोग अभी आ जाय।"

"नहीं, चन्द्र, मानो मेरी बात। भागो, और उत्तर भागो, पंचनदकी ओर। समय अधिक न लगेगा, मैं भी पहुँचता ही हूँ। पाटलिपुत्रसे दूर चले जाओ। शत्रुका सामीप्य विपज्जनक है, तुम्हारे लिए। स्वयं मेरे प्रयत्नोंकी तुम अन्तिम आशा हो। मुझे निराधार न करो। मेरे प्रयासका अंकुर बढ़ चला है। उसे फूलने दो। वरुणके यहाँ मेरी प्रतीक्षा करना, उस मेरे बाल सुहृद्के पास जहाँ कोई तुम्हें छू न सकेगा।" चरणोंमें झुके चन्द्रगुप्तके मस्तकपर हाथ फेरते हुए चाणक्य बोला।

चन्द्रगुप्त चला गया। चाणक्य टहलता रहा। कुटी शान्त थी। उसकी भूमिसे तभी नंगे पैरोंकी चाप उठती जब चाणक्यका चिन्तित अन्तर और आकुल हो उठता। वह सोच रहा था—नन्द शक्तिमान् है पर मध्य देशके क्षत्रियोंके परे उसकी आकांक्षा नहीं। सतलज उसकी सीमा है, स्वप्नकी सीमा। प्रगट है कि उससे मेरी कामना सफल न होगी। चन्द्रगुप्त मात्र मेरा इष्ट सिद्ध कर सकेगा। पर इसके क्रोध और प्रतिशोध स्थायी नहीं। महत्त्वाकांक्षा है पर एकरस रहनेकी शक्ति इसमें शायद नहीं। तारुण्य पार करते ही प्रतिज्ञादुर्बल हो जायगा, पर कुछ चिन्ता नहीं, मगधको केन्द्र बनाकर साम्राज्यका आसमुद्र विस्तार किया जा सकेगा, जिससे हिन्दुकुशकी सीमा लाँघनेका किसीका साहस न हो।

२

पाटलिपुत्र पावसमें भी चमक रहा था। पर उसके वहिरंगकी आबादी सुखी न थी। नगरकी सीमाके वनोंपर अनेक पर्णकुटियाँ थीं, गरीबोंकी, जिनमें बरसातकी झड़ी सदा बनी रहती। सिरपर वृक्षोंकी छाया मात्र थी, छत न थी। ऐसी ही कुटीमें वेश वदले चन्द्रगुप्त छिपा था। नन्दके चर उसे खोजकर थक चुके थे, उसे पा न सके थे। चन्द्रगुप्त गड़रियेके वेशमें दिनभर बुढ़ियाकी भेड़ें लिये इधर-उधर आह लेता फिरा करता, रातमें उसकी कुटीमें चुपचाप आकर पड़ रहता।

एक रात दिन भरका थका वह कुटीमें पड़ा अपने भविष्यके सपने गुन रहा था कि बुढ़ियाकी पोती सहसा चीख उठी। बुढ़िया उसे खिला रही थी, एक प्रकारकी फुलकानुमा पूड़ी। त्यौहारका दिन था, चन्द्रगुप्त अपना भाग पा चुका था। जो बच्चीके रोनेका कारण जानने उठा तो बुढ़ियाको उससे कहते सुना—"मूर्ख लड़की, शिकारपर हमला किनारेसे करना होता है, बीचसे नहीं, वरना अपने ही पकड़ जानेका खतरा रहता है। जो तूने पूड़ी किनारेसे तोड़ी होती तो बीचका परत टूटता और भाफ बीचसे निकल जाती, तुम्हारी उँगलियोंको क्यों जलाती ?"

चन्द्रगुप्तने सुना। आचार्यकी बात याद आई। पाटलिपुत्र छोड़ वह पञ्चनद भागा।

× × ×

चाणक्यका नन्दने आज अपमान किया है। उसे पिताके श्राद्धमें खाते हुए ब्राह्मणोंके बीचसे, उठा दिया है। उसी श्राद्धके बीच चाणक्यने प्रतिज्ञा की है कि उसकी जिस शिखाको खींचकर राजाने खोल दिया है उसे वह नन्दवंशका समूल नाश करके ही बाँधेगा। और तभीसे उसकी आँखोंसे अंगार बरस रहे हैं। क्रोधकी धधकती ज्वाला आज उसके रोम-रोमसे लपक रही है, नथने फूले हुए हैं, होंठ निःशब्द हैं, रह-रह कर फड़क भर उठते हैं। दाहिना कर जब-तब अंगूठे और तर्जनीके बीच जनेऊ ले उठ जाता है। कुटीमें आवाज़ है पर क्षुब्ध विकराल यम सदृश मानवके चरण-चापोंकी। क्षुद्र दीपकी क्षुद्रतर लौ झिलमिला रही है, पर शायद आँखोंके लाल अंगारे उससे अधिक दीप्तिमान हैं।

सहसा उस धूमिल प्रकाशमें किसीकी छाया डोली।

"आओ, चले आओ। जानता हूँ कौन हो, आओ।" चाणक्यने विना देखे ही आहट मात्रसे कहा।

"मैं हूँ, महात्मन्, सेवामें उपस्थित हूँ।"

"आओ, आओ, शकटार। जानता था, तुम आओगे। वह तुम्हारी अभिसन्धि थी। दुरभिसन्धि इसलिए नहीं कहता कि अभिसन्धि वह मेरी भी थी। मैं मगध कार्यवश आया था, सिद्धिके लिए। उसमें नन्दका संहार अनिवार्य था। वह होकर ही रहता। पर उसमें अब त्वरा आ गई। और अब मैं चला।"

"मेरे लिए क्या आज्ञा है, आचार्य ? सेवक सभी प्रकारसे चरणरत है।" शकटारका मस्तक भूमि चूम रहा था।

"आचार्य शकटारोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता, मन्त्री । जाओ, तुम्हारी आकांक्षा फले, प्रतिशोध पूरा हो !"

"मैं अपने कृत्यसे लज्जित हूँ, आचार्य ।"

"शकटार, मैं तुम्हें दोषी नहीं मानता। शत्रुसे बदला लेनेके लिए जितने उपाय प्रयोग्य हों उतने निश्चय प्रयुक्त होने चाहिए । तुम्हारा प्रयत्न साधु था । मैं तुम्हें अपने अपमानका दोषी नहीं ठहराता । बताया न कि होना वही था पर तुमने उसमें त्वरा ला दी, उसे गति दे दी । मुझे एकान्त चाहिए । जाओ ।" और शकटार चला गया । आचार्य चुपचाप टहलता रहा ।

३

"नहीं, चन्द्र, यह आँधी रुकनेकी नहीं । इसे रोकनेकी चेष्टा न करो, विपन्न हो जाओगे, और मेरी एकमात्र आशा नष्ट हो जायेगी । यह फ़िलिपका लाड़ला है, दिग्विजयी, ईरानी साम्राज्यकी जड़ें इसने उखाड़ फेंकी हैं । नष्ट कर देने दो इसे ये गणराज्य । अपना कार्य हल्का हो जायेगा ।" चाणक्यकी मुद्रा सतेज थी ।

"पर यह क्या देशद्रोह नहीं है, आचार्य ?"

"नहीं, यह अवसरपालन है । इसे शक्तिक्षीण हो जाने दो । इसके लौटते ही सारा पंचनद, सीमान्त तक तुम्हारा होगा ।"

"पर, आचार्य, पग-पगपर वीरोंकी आहुति कैसे देख पाते हैं, आप ? मुझसे तो नहीं देखा जाता ।" चन्द्रगुप्त थका-सा बोला ।

"उसे देख पाता इसलिए हूँ कि मेरी आशा फल रही है । वीर कौन है ? आम्भी, जिसने देशका सिंहद्वार शत्रुके लिए खोल दिया ? पुरु, जिसने पहले पिप्रमके विरुद्ध शत्रुकी सहायता की, फिर कठोंके विरुद्ध ? हाँ, कठोंकी बात और है पर उन्हें तो हमें भी नष्ट करना ही था, सो अपना काम हल्का हुआ और तुम जो वह देख पाते जो मैं देख रहा हूँ, जो

चाहता हूँ, तुम देख पाते, तो मेरे विश्वासको शक्ति मिलती। नहीं, चन्द्र, अभी और देखो कि जीवनभर तुम्हें दूसरे देखें।" चाणक्यकी आँखें प्रसन्नतासे चमक रही थीं।

चन्द्रगुप्त चुपचाप एक ओर चला गया।

× × ×

"कौन हो, तरुण ?" सेना निरीक्षण करता सिकन्दर उधर मुड़ पड़ा जिधर चन्द्रगुप्त छद्मवेशमें घोड़ेपर सवार खड़ा था। सिकन्दरने उसकी ओर बढ़कर पूछा।

"स्वच्छन्द सामरिक, विजेता, आयुधजीवी।" तरुण बोला।

"सिकन्दर आयुधजीवियोंकी अपेक्षा नहीं करता, मित्र।"

"सुना है, लौट रहे हो, विजेता।" चन्द्रगुप्तने पैरसे तलवार उछाली।

सिकन्दर व्यासके किनारे था जहाँ उसकी सेनाने हथियार डाल नन्दके डरसे आगे बढ़नेसे इनकार कर दिया था और जब लाचार होकर सिकन्दरने उसे लौटनेकी आज्ञा दे दी थी, ग्रीक पड़ावमें खेलकूद हो रही थी, ख़ुशीकी हद न थी। चन्द्रगुप्तके उस दुखती रगको छूते ही सिकन्दर चमका।

बोला—"मतलब ?"

"मतलब कि आगे मगध है और मगधका स्वामी नन्द कमजोर हाथों तलवार नहीं पकड़ता। पुरु और आम्भी उसके सामन्त होनेकी भी क्षमता नहीं रखते।" चन्द्रगुप्तने घोड़ेको एड़ लगा दी।

सिकन्दरका चेहरा तमतमा उठा। उसने आवाज लगाई—"पकड़ो उस बर्बरको !"

सेल्यूकस, पर्दिकस, मिलीगर, क्रातेरास सभी दौड़े, पर एक भी उसे न पा सका। हाथ नहीं आया चन्द्रगुप्त। क्रातेरसका भाला टूट गया, पर्दिकस और मिलीगर धूल चाटने लगे, सेल्यूकसका टोप चन्द्रगुप्तके भालेकी नोकपर था। और जब उसने प्रातःकालकी हल्की धूपमें अपने भालेपर

चमकते उस टोपको आचार्यके चरणोंमें रखा तो आचार्यने उसे छातीसे लगा लिया।

अभी चन्द्रगुप्त कुछ कहने ही वाला था कि आचार्य बोल उठा—"सुन चुका हूँ, तात। सब सुन चुका हूँ। मेरे पाँच चर तुम्हारी रक्षा कर रहे थे। तुम्हारी शक्ति वे जानते थे, इसीसे उन्होंने तुम्हारे शिकारमें हस्तक्षेप नहीं किया। चिर विजयी हो!"

चन्द्रगुप्त उस अमनुजकर्मा ब्राह्मणको मन्त्रमुग्ध देखता रहा।

४

तीस वर्ष बाद।

अब तक भारतकी राजनीति बदल चुकी थी। नन्दोंका संहार हो चुका था। पंचनदके गणराज्य जो सिकन्दरसे सर न हो सके थे, चन्द्रगुप्तके शस्त्र और चाणक्यकी मेधाके अन्तरालमें समा गये थे। ससागरा पृथ्वी जीती जा चुकी थी। हिन्दुकुश लांघनेका जो सीरियाके सम्राट् सिकन्दरके सेनापति सेल्यूकसने साहस किया तो चन्द्रगुप्तने उसे कुचल डाला।

चाणक्यके जीवनकी सन्ध्या थी। शय्यापर पड़ा हुआ था। मन्त्री-सामन्त हाथ बाँधे खड़े थे। शय्या पकड़े सब कुछ हारा-सा बिन्दुसार बैठा था।

चाणक्य कह रहा था—"चौबीस वर्ष इस धराका उसने अविकल शासन किया। वीर था, मनस्वी था, पर क्षपणकोंकी प्रवंचनाका शिकार हो गया था। अनधिगतके अधिगमनको रक्तपात कहने लगा था और एक दिन जब मैंने उस मुण्डित मस्तक जैन भिखमंगेको बन्दी कर लिया तब वह रोषमें आकर मुझसे बहस कर बैठा। मैंने कहा, वृषल, यह ससागरा पृथ्वी चाणक्यकी जीती हुई है। उसके विजितमें कोई उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता। जो करेगा वह इस साम्राज्यमें नहीं रह पायेगा। और एक दिन प्रासादसे वह गायब हो गया। चरोंने बताया, वह नर्मदा

पार चला गया, महिषमण्डल (मैसूर) की ओर। बस इसीका क्षोभ है।"

"पर आचार्य, आपको आज दुःख किस बातका है ?" ससागरा पृथ्वी आपकी है। आपके शिष्यका तनय शिष्यवत् ही आदेशका परिपालक है।" बिन्दुसार नतमस्तक हो बोला।

"दुःख नहीं है, अमित्रघात, केवल उस प्रिय पात्रकी स्मृति जब तब मानसको विकल कर देती है, विशेषकर इससे कि प्रतापनष्ट हो वह क्षपणकोंका श्वेत चीवर ले बैठा है। पर हाँ, सन्तोष है मुझे कि मेरी इस धराका स्वामी आज तू है जिसने अमित्रोंका संहार कर अपना विरुद सार्थक किया है। यह पृथ्वी चिरकाल तक तुम्हारे प्रतापसे राजन्वती हो!" आचार्यने चुपचाप आँखें बन्द कर लीं।

और, कुछ मिनटोंके बाद वह शक्ति मगधसे उठ गई जिसके नामने मैसूरसे सीरिया तकके राजाओंमें आतंक भर दिया था।

तिष्यरक्षिता

कलिंगका सागरवर्ती देश। फैली बालुकामयी तटवर्ती भूमि। हरित-श्याम ताल-नारिकेल-पुन्नागोंका रम्य कान्तार। सामने अनन्त-अनन्त सीपी और शंख उगलता उद्दाम रत्नाकर। तटपर टूटती नीलाभ वक्र बेलाओंकी बिखरती धवल झाग। कलिंगपत्तनकी सागरवर्ती सागरपारको छूती व्यापक कीर्ति जिसके बन्दरमें मिस्र और तीर, सोदोम और रोमके वणिक्पोत प्रवेश करते और अपना बहुमूल्य पण्य उतार सुवर्णसे अपने तले भर लंगर उठाते। और वह स्वप्निल कन्या जो कभी नारिकेलोंकी श्यामायित रेखामें बिखरती लहरों द्वारा फेंकी अनन्त रंगोंवाली सीपियाँ बटोरती, अब उन पोतोंको अपलक निहारने लगी थी, जो नीलाम्बरके नीचे उछलती नील-सागरकी लहरियोंके शिखरपर नाचते पत्तनकी परिधिमें आ जाते।

राजकन्या थी वह, प्रभात वायु-सी मृदु, खुलते कमलकी पंखुड़ियों-सी टटकी, प्रतिबन्धसे हीन, वेगपूर्वक पवनसे हिलाये आमकी गिरती मंजरियों-सी अल्हड़—चन्द्रमाकी एकस्थ चौदहों कलाके संघातसे उद्भूत जैसे एक किरण, जैसे उस समूची किरणकी एक बूँद।

एक दिन कलिंगपर विपद् व्यापी। मगधका शंकु अपनी पैनी नोक किये उसके मर्मको वेध चला। तरुण अशोकने उत्तर भारतके उस अकेले कलिंग-के प्रति अभियान किया था जो आज भी अविजित था। नन्दोंने कभी उसे जीता था, कालिंग विद्रोही हो उठे थे, स्वतंत्र। मौर्य चन्द्रगुप्तने उन्हें फिर जीता था और फिर वे स्वतंत्र हो गये थे। अशोक अपने परशु-कुठार लिये उनपर जब अन्तक यमकी चोट करने कलिंग पहुँचा तब कालिंगोंने लाखों सैनिक युद्ध-भूमिपर उतार दिये। संग्राम देवासुरका-सा हुआ पर विजय अशोककी हुई। लाखों मारे गये, लाखों आहत हुए, लाखों समर संभूत

रोगोंके आहार हुए। कलिंग विपन्न हो गया। प्रतिक्रियाने अशोकके मर्म-को छुआ, उसने उपगुप्त तिष्यसे दीक्षा ली, बुद्धकी शरणकी शपथ ली।

तब तिष्यरक्षिता अबोध थी, नितान्त अबोध, सागरकी टूटती वेलाओं-से शंख-सीपी लूटनेवाली बाला। एक युग तबसे बीत चुका था, और भी अधिक, प्रायः दो दशक बीत चुके थे जब राजकन्या पोतस्वामियोंसे अपने अटूट प्रश्न करती और उनके उत्तरकी परिधिसे परे भटक जाती। वस्तुतः राजकन्या अब वह न थी, पिताने युद्धमें पराजित हो कबका काषाय ले लिया था और अब जब उपायनके रूपमें वह पाटलिपुत्रके राजप्रासादमें पहुँचा दी गई तब उसकी संज्ञा तिष्यरक्षिता हुई।

पर तिष्यरक्षिता वह हो न सकी। काषायधारी लोकविरत अशोक-गुरु भिक्षु तिष्यने उस तरुणीके मनोवेगोंको रोकनेकी, अपने आकर्षण-केन्द्रोंसे फेरनेकी बहुत जुगत की, पर न चली जुगत उस महाभिक्षुकी, और उच्छृङ्खल शक्तिम तुरंग जैसे कुशल सारथीकी रज्जुओंको तोड़ अप्रतिहत दौड़ जाते हैं, तरुणीके मनोरथ भी वैसे ही अपने प्रतिबन्धोंको तोड़ अनिर्दिष्ट इष्टकी ओर सवेग दौड़ पड़ते। तिष्यकी आशा थककर प्रयत्नविरत हो जाती और अशोक अनमना हो उठता। पर नाम तो तरुणीका पड़ ही गया, पाटलिपुत्रके महलोंका दिया, तिष्यरक्षिता।

तिष्यरक्षिता विरत थी, मगधसे, मगधके वैभवसे, अशोकके भावविलास-से। तरुणीके रोम-रोममें मदनका अल्हड़ उल्लास था जिसे अधेड़ अशोककी वासना एकाकीकी गहरी निपट एकाकी छायामें उभारती और जिसका परिणाम अत्यन्त कठिन हो उठता, दोनोंके लिए, मांसल तरुणीके लिए भी, दुर्बल, काम-लोलुप अशोकके लिए भी। नये आमकी मधुमासकी नई मंजरियोंको जैसे सांघातिक पवन झकझोर देता, मंजरियाँ धरापर चू पड़तीं। हज़ार कण्ठसे जैसे नारीकी तपी देह अपने भाग्यको कोसती, अपने यौवनको और अपनी कायाकी उन सन्धियोंको जिनमें सौन्दर्यके झूले डाल

मन्मथ झूलता है । राजाको वह कुछ न कहती क्योंकि राजा राजा था, पति था, उसके पातिव्रतका प्रहरी था, चोट खाया हुआ नाग था ।

पर केवल कहती न थी वह, गुनती पर्याप्त थी और ध्वनिके अभावमें उसका मानस भावोंके अन्तर्द्वन्द्व, उनकी आक्रमण भूमि बन जाता। संकल्प-विकल्पकी आलोडित-प्रत्यालोडित लहरियाँ अपने अनन्त विस्तारसे तरुणीकी फ़ुट भर चौड़ी छाती घेर लेतीं । दूर देखती आँखें सहसा मुँद जातीं और गंगा-सोनकी सम्मिलित जलरेखा भी अपने अभिराम कलकलसे उन्हें फिर खोल न पाती । तरुणी निस्पन्द दैवकी मारी-सी ऊपरसे शान्त, भीतरसे नक्रविकल झीलके जल सी चुप बैठी रहती ।

× × ×

एक दिन कुछ हो गया । मन सहसा डोला और कहीं जा लगा, मन जिसको तिष्यके उपदेश विरत न कर सके थे, जिसको अशोकके शिथिल भावतन्तु अपनी ओर खींच न सके थे । राजकुलका परिचय तिष्यरक्षिता-को प्राप्त था । पाटलिपुत्रके रनिवासमें जो स्वयं उसका प्रभुत्व फैला था तो उसे दूसरोंका परिचय पानेकी कभी न तो लालसा हुई थी न आवश्य-कता । उसके प्रसादके लोभके लिए रानियाँ और साम्राज्यके कर्णधार कर-बद्ध खड़े रहते और जब-तब वह अपने कृपाकटाक्षसे उन्हें उपकृत कर देती । पर बाहरका वह जनसंकुल परिवार उसके भीतरसे कितना भिन्न था ! कितना रिक्त था उसका अन्तर, कितना सीमाहीन परिधिहीन और किस क्रूर मात्रामें अपने व्यासकी रेखा लिये कन्दर्प उस परिधिपर नित्य दौड़ जाता ! धैर्यके परिकर टूट जाते, रागका स्रोत सूख जाता, पार्श्वधर अशोकका अनुनय नारीको क्षुब्ध कर देता । पर नारीका नर कहाँ था ?

आया एक दिन नारीका वह नर जब प्रत्यन्तोंसे मगधवाहिनी लौटी और जब पिताके साधुवादके बाद उसने माताके चरण छूए । माता न थी वह । मात्र तिष्यरक्षिता, पर ऐसी जिसपर डाले तिष्यके घेरेके सूत कबके

टूक-टूक हो चुके थे। क्षणभरको आँखें चार हुईं। चपला जैसे एक बार हियेमें कौंधी और रोम-रोमको उजागर कर गई। मनकी शक्तिने मनोरथों-की आँधी रोकी वरना जैसे लगा कि अबतकके सारे मूक उल्लास, सारी विजनकी सोची साधें, सारी अपूजी आसें उसी मात्र क्षणके लिए रुकीं थीं, उनका सहसा बाँध तोड़ उमड़कर बह चलना उसी क्षणके लिए रुका था।

धर्मशास्त्रोंके व्याख्यान एक बार मनके ऊहापोहमें घूम गये, आचार्योंके उपदेश अन्तरमें चमके और विलीन हो गये और तिष्यके संयमने भीतर झाँका और लजाकर लौट पड़ा। राजाका पौरुष क्षुब्ध किंचित् न हुआ, घुटने उसने निश्चय टेक दिये।

दो नयन। बड़रे, जो नयनोंमें समा न पाते थे, पर उनके प्रभावका आयतन बड़ा था। तिष्यरक्षिताने उनके व्यापक अभियानसे पहले दिनों-सप्ताहों-मासों अपनी भूमि मर्दित न होने दी, बचा रखी। पर मानसकी कुटिल संज्ञाने उसे धोका दिया। स्मृतिका अवलम्ब सुखद और दुखद दोनों होता है, जैसे साक्षात्‌से परोक्षकी चोट गहरी होती है, अनवरत। पलकबोझिल निद्रागत मानस स्मृतिके कुठारसे पलपल चुटीला होता रहता है और पलपल जागरणकी अवधितक, उसे संजोता है जिसका संजोना पाप है।

नयन वे न मुँदे। नयनोंकी राह मानस-पटलपर उतर आये। खण्ड-रिचके-से वे नयन जिनकी चञ्चलता उस पक्षीके लिए भी उपदेश होती, तिष्यरक्षिताके अनन्त रिक्त अन्तरप्रसारमें फैलकर भर गये थे। कुणालके वे नयन जिनको अशोकके तनयकी वह तापसी काया धारण करती थी विलाससे जिसका मोह न था। पर उससे क्या ?

किसने जानकर दिया ? और किसने जानकर लिया ? पर जिसने पाया उसने उसका धन भी जाना, उसकी पीड़ा भी जानी। तिष्यरक्षिताका नैतिक संबल बड़ा था। मगधके वैभवकी वह धनी थी, साम्राज्यकी प्राचीरें उसकी मुट्ठीकी रेखाओंमें सोती थीं। सद्धर्मके काषायधारी स्थविर

उसके अनुचर थे। विलासकी वेलाओंको उसने कबका दबा दिया था। उसने मनको क्षुब्ध न होने दिया, मनका मोल भी उसने न माँगा और जब स्वर्णकी शय्यापर वह स्वामीके अंकगत होती तब उसे ग्यारहों प्राण समेट कर शरीरकी सारी सौन्दर्य-सन्धियाँ खोल उसे भेंट देती। पर मन जैसे पुकारकर कह उठता कि संयमसे निरुद्ध जितना भी प्राणमय अभिराम मोहक कलेवर है उसे ले लो, राजन्, पर नहीं कर पाती मनके ऊपर अधिकार, नहीं दे पाती तुम्हें मनका सहकार। तन ठीकरे-सा है, उससे मन तबसे विरत हो गया जबसे उन नयनोंने उसका मोल न आँका। अब स्वयं उस मनका कोई मोल नहीं, फिर इस तनसे क्या ? सो ले लो तुम यह तन।

और एक दिन जब प्रासादके प्रमदवनमें आपानककी परिधिमें लोचन वारुणीके मदसे अर्धोन्मीलित हो प्रजाग्रत संज्ञासे कुछ कह बैठी, तब दोनोंपर दोनोंका भेद खुल गया—तिष्यरक्षिताके प्रणयका कुणालपर, कुणालकी लाचारीका तिष्यरक्षितापर।

अग्राह्यका कुणाल तिरस्कार न कर सका यद्यपि मोहको उसने वेदनाके कृपाणसे काट डाला। चला गया वह फिर अन्तोंकी ओर, गान्धार-तक्षशिलाकी ओर, गंगा और शोणके कोणसे दूर।

और तब एक दिन जब निदाघसे डही धराको पावसकी पहली बयारने शीतल परसा, रिमझिमकी गुद्‌गुदी धराकी सुरभि दिशाओंकी ओर ले उड़ी, तब मर्माहत तिष्यरक्षिताने संवाद भेजा, "निसर्ग नाच रहा है, प्रकृतिकी स्त्री पुरुषके स्पर्शसे ऋतुमती हुई है, उसे कुछ भी अदेय नहीं। नयनोंकी राग-रेखा मानसकी मद-रेखा बन गई है। उनके दर्शनकी स्मृति तड़ित्‌की चोट करती है। उन नयनोंको क्या फिर देख न पाऊँगी, नयनोंमें भर न पाऊँगी, पलकोंसे परस न पाऊँगी ?"

वाहक सीमान्तसे लौटा, अमूल्य उत्तर लिये। तिष्यरक्षिता देवलके द्वारसे अभी निकली ही थी, घुटने टेक उसने अंजलि बना उपायन माँगा।

वाहकने एक कमल उस अंजलिमें रख दिया। धीरे-धीरे अपने नयनोंके नीचे देवीने उस कमलको खोला। कमल खुलता गया जैसे सम्पुट पद्म। पर जब वह खुला तब तिष्यरक्षिताकी संज्ञा क्षणभर उसे देख विलुप्त हो चली, धीरे-धीरे, परन्तु क्षणकी परिधिमें ही, क्योंकि क्षण चिरकालिक हो चुका था। तिष्यरक्षिताने देखा, कमलदलमें बन्द दो विशाल नयन थे—कुणालके नयन !

अश्वमेध

युगोंका प्रताप तप रहा था। पुरोहित पुष्यमित्रने मौर्योंके अन्तिम सम्राट् बृहद्रथको समूची सेनाके सामने खुले आम मारकर मगधका साम्राज्य छीन लिया था। शास्त्रचेता ब्राह्मणने शस्त्र धारण किया और उसका ऋत्विज् दर्शनकार पतञ्जलि बना।

सदियोंसे जो ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष चला आता था उसीकी यह परिणति थी कि भारतका सुविस्तृत भूखण्ड तीन भागोंमें बँट गया था और तीनों ब्राह्मण शासनमें थे—मगधका उत्तरवर्ती साम्राज्यका विधाता सेनापति पुष्यमित्र शुंग था, पूर्ववर्ती कलिंगका सम्राट् ब्राह्मणवंशी जैन सम्राट् खारबेल था, और समुद्रान्त दक्षिणा पथकी प्रशस्त पृथ्वीके भोक्ता परशुरामकर्मा आन्ध्र-सातवाहन थे।

मगधकी सीमाएँ यद्यपि पिछले मौर्योंने अपनी कायरतासे संकुचित कर ली थीं, पुष्यमित्रने जिस साम्राज्यको सम्हाला उसका विस्तार मालवासे सिन्धु नद तक था, बंगालसे पच्छिमी पंजाब तक। उसने बाख्त्रीके महान् भारत-विजेता ग्रीक देमित्रियस्को एक ओरसे पाटलिपुत्रमें प्रवेश करते दूसरी ओरसे राजगिरिकी पहाड़ियोंमें मगधराजको भाग जाते देखा था और उस १५ वर्षके किशोरकी नसें रक्तसे तन गईं थीं, मन कुण्ठासे भर गया था। उसने प्रण किया था कि वह ग्रीकोंको देशसे बाहर कर देगा, मौर्योंसे शासन-रज्जु छीनकर देशकी ग्रीकोंके अत्याचार और मौर्योंकी कायरतासे रक्षा करेगा।

रक्षा की उसने देशकी, दोनोंसे। और उसने सम्राट्का विरुद भी स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया। उसे उसकी जगह 'सेनापति' संज्ञा अधिक रुची। उचित भी था, जीवन पर्यन्त सेनाका स्वामी होनेका ही उसे

गर्व था और जनताने भी उसे म्लेच्छोंके विरुद्ध देवसेनाका संचालन करने वाला सेनानी ही माना ।

पुष्यमित्रने दो-दो अश्वमेध किये । पहिला अश्वमेध शक्तिकी परीक्षाके लिए था । ग्रीक मध्यदेशको रौंद रहे थे, बौद्ध विहारोंमें उसके विरुद्ध षड्यन्त्र हो रहे थे । बौद्धोंने विदेशी ग्रीकों तकको स्वदेशके विरुद्ध चढ़ा लानेमें लाज न मानी । उनके प्रोत्साहनसे समानधर्मा शाकल (स्यालकोट) का ग्रीक राजा मिनान्दर मगधपर चढ़ आया । शुंगराजने गंगा-जमुनाके द्वाबमें उसे परास्त कर मार डाला और अपने विरोधी षड्यन्त्रकारी बौद्ध विहारोंको पाटलिपुत्रसे जालन्धर तक जला डाला । शाकल पहुँच उसने ऐलान किया—"जो मुझे एक श्रमणसिर देगा उसे मैं १०० दीनार दूँगा ।" संस्कृत भाषा लौटी, यज्ञ-कर्मकाण्ड लौटे, ब्राह्मणोंकी सत्ता लौटी ।

परन्तु बाख्त्री अब भी भारतकी सीमापर ललचाई आँखों देख रहा था । जब तब ग्रीक-वाहिनी भारतीय दुर्ग-शृंखलाको भेद देशके अन्तरंगपर चोट करती और मगध सहसा जग पड़ता । कुछ ही काल पहिले ग्रीकोंने जब मगधपर प्रहार किया था तब साम्राज्यकी सारी चूलें हिल गईं थीं, दुष्ट विक्रान्त यवनोंकी चोटसे प्रान्त बिखर गये थे ।

उससे जब-तब ग्रीकोंके नामसे जनता आतंकित हो उठती । पुष्य-मित्रने तब उनको देशसे सर्वथा निकाल बाहर करनेका निश्चय किया । दूसरे अश्वमेधके लिए तब उसके गुरु महर्षि पतञ्जलिने यज्ञ-रचना की ।

साम्राज्यका सबसे ताक़तवर घोड़ा चुन लिया गया । जब वह कानोंको ऊँचाकर पिछले खुरोंसे भूमि खोदने लगता, लगता कि जैसे उच्चैःश्रवा पृथ्वीपर उतर आया है । पर समस्या यह थी कि उस निरर्गल तुरगकी रक्षा कौन करे ? उसकी रक्षक सेनाका संचालन कौन करे और यह सैन्य-संचालन उन दुर्मद यवनोंके विरुद्ध था युद्धमें जिनका साका चलता था । मगधमें वीरोंकी कमी न थी । साम्राज्यमें अराजक राष्ट्रोंमें एक-से-एक बढ़कर बाँके सैनिक थे, एक-से-एक रण-बाँकुरे,

पर पुष्यमित्रको उनसे आश्वासन न हुआ। एकके बाद एक युवक सेनापतिके सामने सिर झुकाये अश्वरक्षाका प्रण करते पर यज्ञ-दीक्षित सेनापति हतप्रभ हो उठता। रात-दिन उसे चिन्ता लगी रहती कि रक्षकके अभावमें अश्वमेधका उसका प्रण कहीं हास्यास्पद न हो उठे। अश्वका छोड़ना कुछ आसान न था। बग़ैर लगामके उसे सालभर आज़ाद घूमना था, शत्रुकी भूमिपर, और रक्षकको अपनी सेना लिये उसकी रक्षाके लिए पीछे-पीछे फिरना था। राह रोकने वालोंकी, शुंगोंके प्रचण्ड प्रतापके बावजूद, कमी न थी। ग्रीकोंके दल-के-दल जंगलों-पहाड़ोंमें छिपे फिर रहे थे। उनके राष्ट्रका विनाश हो चुका था पर भूमिका लालच अभी उनमें मरा न था।

मनुष्य सरबस खो देता है पर आशा नहीं मरती। उसी आशापर ग्रीक भरोसा किये बैठे थे, जंगल-जंगलकी खाक छान रहे थे। साहस उनमें स्वाभाविक था और अब उन्होंने साहसिकतापर कमर कसी थी। साम्राज्य-की दुर्बल सीमापर वे भरपूर चोट करते और जनताको छिन्न-भिन्न कर देते। और अब जो उन्होंने शत्रुके अश्वमेधकी बात सुनी तो शाकल और सिन्धुनदके बीच उनके पैंतरे बढ़ गये। अन्तिम बार सब कुछ दाँवपर लगा देनेके लिए वे एकत्र होने लगे।

एक दिन महर्षि पतञ्जलिने चिन्तनशील सेनापति पुष्यमित्रके पास पहुँच कर कहा—सेनापति, अश्वका रक्षक लाया हूँ, उसे सैन्य-ध्वज सौंपो।

चकित पुष्यमित्रके नेत्र प्रसन्नतासे चमक उठे। उसने जो महर्षिके पीछे अर्धावृत द्वारपर दृष्टि डाली तो अपने पौत्र वसुमित्रको प्रवेश करते देखा। उसकी भृकुटियोंमें तनिक बल पड़ गया और द्वारकी ओरसे उसकी आँखें अर्थकी आशासे पतञ्जलिकी ओर लौट पड़ीं।

"सेनापति, पौरुषके अनुबन्ध, अप्रतिम शस्त्रधर वसुकी तुम्हें कैसे याद न आई? उत्तरापथमें इसकी जोड़का लड़ाका और कौन है, पुष्य?"

"वसु बालक है, गुरुदेव। उसके बलका अटकल मुझे है। उसके रणसे

अविजित लौटनेका प्रण मागध तरुणोंकी शपथ है, यह भी जानता हूँ, देवता। फिर भी कहता हूँ, वसु बालक है। बालक आगकी लपटोंमें कूद सकता है, शायद बनैले विगड़े हाथीको बाँध सकता है, अभिमन्युका आचरण कर सकता है, पर अभिमन्युका आचरण अश्वकी रक्षा नहीं करेगा, महर्षि। वही उसकी रक्षा कर सकता है जो अपने प्राणोंकी रक्षा कर अश्वको सकुशल लौटा लाये, और उसके सकुशल लौटनेकी राहमें दुष्ट विक्रान्त यवन भल्ल लिये खड़े हैं।''

''खड़े रहने दो, सेनानी। वसु पुष्यका प्रतिनिधि है। पुष्यका पौरुष वसुमें फिरसे ऊर्ध्व-रक्त हुआ है। शत्रु नहीं जिसे वसु परास्त न कर सके। शंका न करो। वसुमें पौरुष और मति दोनों हैं, पौरुष और मति जिनसे मौर्योंका राजदण्ड कभी तुमने बृहद्रथके हाथसे छीना था।''

''पर, गुरुदेव, धारिणी ?''

''धारिणीकी चिन्ता न करो पुष्य, वह वीर-प्रसवा है। जानती है कि वसुन्धरा वीर-भोग्या है, और कि उसका वसु धराको धारण करेगा।''

फिर वसुमित्रकी ओर देख महर्षि बोले, ''वसु, पितामहका आशीर्वाद ले।''

घुटने टेके पोतेके सिरपर हाथ फेरते हुए पुष्यमित्रने कहा, ''उठो, वत्स, पिताके प्रमादका प्रायश्चित्त करो। जानता हूँ अग्निका क्रोध और धारिणीकी चिन्ता दोनोंका मैं शिकार हूँगा पर राष्ट्रकी आवश्यकता और गुरुकी आज्ञाके हित तुम्हें अश्व सौंप चिन्तासे विरत हो जाऊँगा, भारका दण्ड धारण करो।''

पितामहने पोतेको डबडबाई आँखों भेंटा। पोता पितामह और महर्षिके चरण छू कमरेसे बाहर निकल गया।

६ महीने बाद।

क्षितिजसे उठते अरुणकी तरह वसुका तेज दिगन्तमें अब तक फैल चुका था। बालक समझ ग्रीकोंने जो स्थान-स्थानपर उसकी गति रोकनेकी

चेष्टा की तो उन्हें बार-बार मुँहकी खानी पड़ी। मथुरा और शाकल लाँघता, घोर जंगलोंकी राह जब वसुमित्र पंचनद लाँघ सिंधुके तट पहुँचा तब वहीं ग्रीकोंकी सेनाने जमकर उसका सामना किया। सिंध और पंजाब, गांधार और उद्यानके ग्रीक, घुमक्कड़ शस्त्रधर, आयुधसेवी सैनिक दूर-दूरसे आकर उनके झण्डेके नीचे खड़े हो गये। चोट खाये साँपका क्रोध था उनका। फन फैलाये आसमानमें उन्होंने माथा टेका। जूझने या जीतनेके लिए वे रणक्षेत्रमें उतरे। भयानक युद्ध हुआ, पर साँझ लगते-लगते मगध-का तुमुल जयनाद भागते ग्रीकोंके कानोंमें गूँज उठा। सिंधुतटसे जो उनके पैर उखड़े तो निरन्तर उखड़ते ही गये—सिंधसे, गांधारसे, उद्यानसे। हिन्दुकुश लाँघ फिर वे बाख्त्रीमें ही जाकर रुके। विजयी वसुमित्र लौटा। दीक्षित पुष्यमित्रका अश्वमेध संपन्न हुआ।

थीबियाका दौत्य

बाईस सौ साल पुरानी बात है। भारतकी सीमापर ग्रीकोंका प्रखर ताप तप रहा था। बाख्त्रीकी उपत्यकामें वक्षु नदीके तटपर केसरकी क्यारियोंमें अतिकाय ग्रीक अभिराम नवयौवनाओंको छेड़ते और केसरके कुसुमोंकी धूल उनके कुन्तलोंमें भर जाती। बरसी पराग माथेसे उठाये जब वे अपने घरोंको जातीं तब उनके स्वामी तेजहीन हो मलिन मुद्रासे उन्हें देखते और यह जानकर कि यौवनका नवरस केसरकी क्यारियोंमें उनकी ललनाओंके सांनिध्यसे बहता है, पुरानी परम्पराका अनिवार्य अंग है, चुप रह जाते थे।

थीबियाका यौवन भी उन्हीं क्यारियोंमें बरसती परागकी छायामें उठा और दिमितके परसते हाथोंसे निखर चला, पर एक दिन जब दिमित भारतकी सीमा पार कर चला, तब, हिमके भारसे जैसे कमल कुम्हला जाता है, थीबियाका यौवन भी मलिन हो चला। उसके विलासको दिमित वैसे ही भूल गया जैसे हिन्दूकुशकी ऊँचाइयाँ हिमपातके समय वसंतके सौरभको भूल जाती हैं।

दिमित हिन्दूकुश पार कर चुका था। पत्तन और माध्यमिका होता वह पाटलिपुत्र पहुँचा। पाटलिपुत्र मगधकी राजधानी था। मौर्यवंशके अप्रतिम राजा मगधका शासन कर चुके थे। मौर्योंकी शक्तिका अपराह्न हो चुका था और बस अब सन्ध्या शेष थी और दिमितके आक्रमणने रात ला दी, अमाकी गहरी काली रात। लोहेसे आग बरसने लगी। पाटलिपुत्रके प्रासाद धूलमें मिल गये। नगर ध्वस्त हो गया। नर-नारी जो बचे, नगरसे बाहर निकल गये। नगरपर राहुका पंजा पड़ा।

× × ×

नीरव रजनी चन्द्रके आलोकसे कुछ चमक चली थी। नगर स्तब्ध था। ग्रीक गाँवमें जाते, बाजके-से पंजे मारते और गृहस्थोंकी नारियाँ हर लाते। एक रात जब पाटलिपुत्रके राजभवनमें हल्की रागिनी अपने स्वरसे धीरे-धीरे पहरुओंके मनको डाँवाडोल कर रही थी, दिमित अपनी कमज़ोर भावशृंखलाको तोड़ उठ खड़ा हुआ और चला उस दिशाकी ओर जिधरसे उस मदिर रागिनीका स्वर धीरे-धीरे उसकी ओर बहा आता था। दूर जाना न पड़ा। भवनके पश्चिम द्वारके कलश-कँगूरोंके पीछे अमिताभ प्रस्रविणीके तटपर उसने एक छाया देखी, निष्प्रभ सुकुमार छाया जिससे स्वरकी मदिर वेला वैसे ही हवामें हल्की उठ रही थी जैसे प्रस्रविणीके जलकी उन्मद वीचियाँ। दिमितका मन हल्के लहराया। दूरकी सुधि आई, वक्षुके तटकी, केसरकी क्यारियोंकी, थीबियाके मदिराभ नयनोंकी और उस भूले विलासकी, जिसने कभी बाख्त्रीके नर-नारियोंको मोह लिया था। थीबियाके स्वरमें भी तब वह शक्ति थी। पर वह कभीकी बात थी और कभीकी बात तो सदा रहती नहीं। थीबिया भी दीमितके स्मृति-पटलसे जैसे मिट चली थी, पर याद आई उसकी। मधुर वाद्यके लहराते स्वर जब अन्तरमें पैठते हैं और कभीके आग्रहपर अबके सोये उल्लासको सहसा चौंकाकर उगा देते हैं तब सुननेवालेको कुछ हो जाया करता है। हो गया दिमितको भी कुछ। दिनको सूरजकी किरणोंमें दमकती तलवारें, मेघ-से गरजते रणमें वीरोंकी हुंकार, ग्रीक शक्ति और पौरुषके गर्व और गौरव सब खो गये। निरुपम आर्द्र मानव जैसे नग्न खड़ा हुआ, उस मदालस रागिनीके स्पर्शसे मदहोश।

दिमितने बरबस यादकी भूली हुई वह स्वर-लहरी जो अक्सर थीबियाकी ग्रीक वीणासे निकल-निकल वक्षुके आकाशमें पसरा करती थी। पर गायिका थीबिया न थी। उसके कुञ्चित लहराते कुन्तल हवासे उलझ रहे थे, जल वीचियोंकी अग्रभूमिमें, और गायिका घुटने टेके वीणा गोदमें धरे, तारोंको हल्के-हल्के छेड़ रही थी। उसकी कोमल रागिनीसे कहीं

अधिक सुकोमल उसकी भावमुद्रा थी, आर्द्र कोमलतर। और अधखुली आँखोंकी श्वेत आभाके नीचे, रतनारे निचले डोरोंके ऊपर बीचकी श्यामता पलकोंके बोझिल भारसे कहीं रम गई थी। श्याम पुतलियाँ निश्चय उन्हीं नयनोंकी थीं, पर निःसन्देह उनका दृष्टि-पथ ही दूर चला गया था, सामने खड़े दिमितसे दूर, दूर परे।

दिमितने अनजाने दोनों हाथ बढ़ा दिये। बोला—"इतना दर्द कहाँ पाया, देवि ?"

स्वर बहता रहा। वीणा न रुकी। वेदनाका निर्झर अब भी प्रवहमान था।

"सुना नहीं, देवि ?"

लहरियाँ न रुकीं, वेदनाकी धार बहती गई। वेदनाकी धार थी वह जो उल्लासके स्वरसे कहीं अधिक तीव्र होती है। लयका विन्यास चाहे जितना भी कोमल क्यों न हो, पर घाव उसका उन तारोंसे कहीं नुकीला होता है, जिनसे वे सहसा निकल पड़ती हैं। दिमितका आहत मन उस नीरव रागिनीसे और भी द्रवित हो गया।

"भारतका विजेता दिमित सामने खड़ा है, देवि, अनुनय-विनय लिये; अभियानका तिरस्कार करता। बोझिल मनको शान्त करो, बोलो—कौन हो तुम ?" रागिनी सहसा बन्द हो गई। दहकती चाँदनीमें चाँद-सा ही कान्तिमान मुख ऊपर उठा, आड़े चिबुककी लुनाई जैसे दिमितको मथ चली। अरुणाभ अधर हिले, उनके परस्पर भिन्न होनेसे दाँतोंकी विद्युत् रेखा तनिक चमकी, फिर होठोंके सम्पुट हो जानेसे वह आभा विलीन हो गई। सन्नाटा फिर छा गया। पर चिबुक वैसे ही अधरमें उठा था, जैसे किसीकी हथेलीकी उँगलियोंकी कामना करता। और दिमित वैसे ही दोनों हाथ बढ़ाये फिर बोला—

"तीन रातें चाँदनीका परिकर बाँधे प्रकोष्ठपर उतरी हैं, देवि, तीन रातें जैसे बिताई हैं वैसे गंगा और वक्षुके बीच रहनेवाले किसी प्राणीने न

बिताई होगी और यह तुम्हारा स्वरपुञ्ज जिस प्रकार अन्तरको मथता रहा है उसकी कथा मेरे कहनेकी नहीं, सुननेकी है। फिर बता दो न आज—कौन हो तुम, स्वरसाधिके, कौन हो भला तुम ?"

"कौन हूँ मैं ?—" चिबुक तनिक हिला, अरुणाभ अधर कपोलोंकी रक्तिम आभासे अरुणतर हो खुले और जैसे पुष्करिणीकी दो वीचियाँ एक दूसरेसे टकराती-लहराती-विलग हुईं। बोली—"कौन हूँ मैं ?—अपने ही अन्तरसे पूछो न, गहरे देखो। जब गंगाकी गहराइयाँ वक्षुकी छिछली धारासे जीत गईं तब भला थीबियाकी याद, तुम्हें कैसे आये ?"

प्रतिहत दिमित अनायास बोला—"थीबिया !" "हाँ थीबिया।" पुष्करिणीकी हल्की लहरोंने कुछ सुना जो दिमितने न सुन पड़नेवाले शब्दोंमें कहा। नारी कुछ बंकिम हुई और दिमितकी ओर अपनी शिलासे देखती बोली—"तुम्हारे अनुरागकी शपथ दिमित, हिमालय और हिन्दुकुशके परे चन्द्रभागा और सिन्धुके पार पामीरोंकी छायामें ग्रीकोंका जीवित अनुराग वह थीबिया आज भी डोलती है, बाख्त्रीके पौरुषकी एक मात्र कामना—थीबिया। पर अनुरागकी वह प्रतिमा मात्र रह गई है, चित्रित आकृतिकी रेखा मात्र। रंग और रस आकृति और प्राणोंकी कायासे उठ गये हैं पर काया अभी बची है, डोलती है वह काया, यद्यपि निष्प्राण आशाकी एक लीक सँभाले, हिन्दुकुशके पार जाने वाली राहपर पलकें बिछाये। हिन्दुकुशकी राह दिमित सर्दियोंमें बर्फानी तूफानके हिमसे ढँक जाती हैं पर पलकें गड़ी ही रहती हैं; और वह हिमके नीचेकी राहकी लीक जानती है कि एक दिन उसी राह कोई गया था जिसके चरण वक्षुकी रेतमें उतने ही गहरे गड़ते थे जितने गहरे उनकी स्मृतिके चिह्न थीबियाके भाव-पटलमें गड़े हैं। दिमित, पामीरोंमें अब वसन्त नहीं आता। पराग फूलोंकी पंखडियोंसे लाल-पीले होकर अब उपत्यकाके आँचलमें नहीं झरता, न वहाँकी क्यारियोंमें अब केसर ही फूलती है। ऋतुराज पामीरों पार हिन्दुकुश लाँघ आया है, दिमित, इधर—गंगाके इस आँचलमें—क्या लौटेगी नहीं ?"

"तो तुम थीबिया नहीं हो !" पिघलता अन्तर जैसे और पिघल चला !

"थीबियाको पहिचाननेकी भी अब इस हाहाकारके बीच आँखें न रहीं; दिमित ? अब क्या वक्षुके तीरकी वसन्त-परम्परा वेदनावर्ती परम्परामें बदल गई ? नेत्र अपनी पलकोंको जिसकी राहमें उठाये रहते थे वे क्या तब उसे पहचान भी न पायेंगे ? मैं उसकी पार्श्ववर्तिनी क्रीता हूँ, राजन्, अभिराम, सुवासित मदिराके चषक भरनेवाली विलासकी प्राणदायिनी। पर वह विलास जिसमें उसका अपना कोई स्थान नहीं। महीनों रहते आये हो, दिमित, इस नगरमें, शायद तुमने भी सुना होगा वह जो इस देशके रहने वाले अपनी पुरानी परम्परामें कहा करते हैं—कि हमारे देवताओंके राजा जो उसकी तरह ही इनके देवताओंका भी एक राजा है, इन्द्र और उसकी एक प्रेयसी है सनातन किशोरी उर्वशी और उसका एक अपने हियेका कभीका चुना प्रिय है जिसका नाम है चित्ररथ। बड़ा अभागा है वह चित्ररथ, दिमित, क्योंकि मात्र वह उसका सखा है, पार्श्ववर्ती, उसके प्रणय-उल्लासके निमित्त अपनी उस उर्वशीको सभी प्रकारसे प्रसाधित कर चुपचाप उसके भोगके निमित्त प्रस्तुत कर देनेवाला, स्वयं उस सखाका मात्र पार्श्ववर्ती, उसकी प्रियाका मात्र प्रसाधक—और मैं उसी चित्ररथकी नारी-कल्पना हूँ, क्रीता, थीबियाको प्रसाधितकर तुम्हारे निकट प्रस्तुत कर देने वाली, तुम्हारे निरालस मदिर विलाससे दूर भी पार्श्ववर्तिनी। कितनी बार उस अपने प्रस्तुत प्रसाधित विलासके इष्टको देख वेदनाकी लहर अन्तरमें उठी है और बहकर रोम-रोमपर छा गई है, पर प्रसाधक तो भाव-वस्तुसे भिन्न है न, दिमित ? वह मरीचिकासे अतिरिक्त पदार्थकी आशा कैसे करे ?"

क्रीता जैसे साँस लेनेके लिए रुकी। दिमितपर भी जैसे सुनते-सुनते मोह छा गया था। वह तनिक चौंका, बोला—"जाना, क्रीता, जाना—पर यह बात किसकी कह रही हो, भला ?"

"अपनी, दिमित, और यह बड़ी ग़लती है। संवाद लेकर आई हूँ,

दूरसे वेदनाका संवाद लिये आई और अपनी बात कहनेका अधिकार नहीं, पर वह तो आँचलके पीछे छिपाये ज्योति-लौकी बात थी, दिमित अब संवाद सुनो—"थीबियाकी करुण पुकार आज वक्षुके कान्तारोंको भर रही है, उसका तरुण विन्यस्त जीवन लताकी टहनीसे बँध डोल रहा है। युक्रेतिदके विलासका तूफ़ान आग-पानी लिये उसको घेर चला है और अगर तुम न लौटे तो तुम्हारा वह चिर-संचित, चिर-कल्पित, चिर-क्रीडित विलास स्वप्न हो जायगा। चली मैं अब, तुम्हारी राहके काँटे फूल हों। विदा!" और क्रीता भारतीय वेशके अपने अधोवस्त्र सम्हालती, चाँदनीका परिकर बाँधे, हवामें उछलते कुंचित केशोंको सँभालती, वीणापर स्तनोंका भार डाले चली गई। दिमित मन्त्रमुग्ध-सा चीख़ कुछ काल पेड़ोंकी छायामें क्रीताकी छायाको विलीन होते देखता रहा, देखता रहा।

दूसरे दिन पाटलिपुत्रसे ग्रीक सेनाकी कूचका डंका बजा और दिमित उसे लिये नगरकी प्राचीरोंसे बाहर निकल गया। पर बाख्त्रीकी राह लम्बी थी और उस राहके काँटे फूल न बन सके। युक्रेतिद-सा भयंकर दस्यु पामीरोंसे उतर हिन्दुकुशकी आड़में खड़ा था, एक ओर दूर दिमित था, दूसरी ओर पीछे, परे, दूर वक्षुके तीर वसन्तकी बिसारी केसरकी सूनी क्यारियोंमें पतझड़के बीच सूखी लता-सी प्रत्यंग बिखेरे थीबिया।

मगधके महलोंमें

एक दिन था जब सम्राटोंने महल बनाये, महलोंने सम्राट्। बात अनोखी है, पर है सच्ची। चेतन मानव जब जड़को आत्मसमर्पण कर बैठता है तब जड़ भी चेतनपर हावी हो उसे बनाता-बिगाड़ता है, बनाता कम है बिगाड़ता अधिक है। मदिरा और पाँसेकी शक्ति जीवन और इतिहास दोनोंकी जानी है, दोनोंकी परखी। महलोंकी प्रेरणा और शक्ति उनसे घटकर न रही।

महलोंने राजसत्ता दी और छीन ली, सम्राट् बनाये और बिगाड़े। राजा जब-जब प्रमाद और प्रमदाके वशी हुए तब-तब उन्होंने महलोंकी ओर देखा, रनिवासों, हरमोंकी ओर, तब महल संज्ञाहीन राजाको षड्-यन्त्रोंके झूलेमें झुलाने लगे। रोमन सम्राटोंका यही हाल हुआ, चीनी सम्राटोंका भी, तुर्क-सुल्तानोंका भी। हरमोंके प्रति आत्मसमर्पण कर देने-पर, सुरा और सुन्दरीको माथा टेकनेपर, महलोंमें षड्यन्त्रोंका ताँता लगा और सर्वत्र कठपुतली राजाओंकी परम्परा खड़ी हो गई।

इसी प्रकार मौर्योंका अन्त हुआ, इसी प्रकार शुंगोंका हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्यने चाणक्यकी छायामें जिस साम्राज्यका विस्तार किया, उसे अशोकने स्नेहसे पाला, उसे ही बृहद्रथने अपने अन्तःपुरके विलास-यज्ञमें होम कर दिया। शुङ्गोंका प्रताप फिर तपा। पुष्यमित्र और उसके पोते वसुमित्रने ग्रीक-यवनोंको सिन्धुनदके पार भगा दिया, पर उन्हींके वंशधर देवभूतिने संकटसे पाई, शक्ति और संघर्षसे रक्षित धराको असंयत कामकी लोलुपतासे खो दिया। कहानी यह उसी सर्वनाशकी है।

कहानी आजसे दो हजार साल पहलेकी है, जब शुङ्गोंका सूर्य मगधमें तपकर अस्ताचलगामी हो चला था। पंजाब-उद्यानमें यवन-पह्लव प्रबल

थे, हिन्दुकुशके शिखरोंसे कबकी भारतीय छाया हट चुकी थी। अब उनके स्वामी बाख्त्रीके यवन थे, ईरानके पह्लव।

और शुङ्ग सिन्धु-पंजाबसे हट आये थे। मगध और मध्यदेश ही अब उनके शासनमें बच रहे थे। सम्भवतः बंग और मध्यभारतके कुछ भाग भी। शुंग-वंश अपने शासनकी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। टिमटिमाती लौपर देवभूतिने कामके उन्चासो मरुत् फूँक दिये।

देवभूति था, जाह्नवी थी, वसुदेव था, मदनिका थी। देवभूति मगधका सम्राट् था, वसुदेव उसका मन्त्री। जाह्नवी उसकी रानी थी, मदनिका उसकी दासी, दासीकी पुत्री। जाह्नवी रानियोंमें सबसे छोटी थी, मदनकी रति-सी रूपसी, माया-सी मोहिनी, मदिरा-सी मदिर। जाह्नवी देवभूतिके जीवनमें तब आई जब उसका पौरुष जागकर सो चला था, जब कायासे अधिक उसकी छायाकी कामना थी, जब कुसुमसे अधिक उसकी सुरभिकी माँग थी, मद्यसे अधिक उसकी मादकताकी। जाह्नवीने देवभूतिको सो सब दिया।

मदनिका देवभूतिकी काम-परिधिमें कभी समा चुकी थी, जब राजा अभी कर्मठ था। तब मदनिका अभी आयुकी कच्ची थी, आमकी मंजरी जिसमें मकरन्द अभी बँध न पाया था, सुकुमार प्रवाल, कोमल किसलय, कनैलकी कोरक जो वृन्तसे अभी फूट भी न पायी थी। देवभूतिकी शत्रु थी मदनिका, कारण-शत्रु।

वसुदेव देवभूतिका मंत्री था, नीतिका पण्डित, रनिवासका, उपेक्षित रानियोंका सखा, मगधकी लक्ष्मीका उपासक। महत्त्वाकांक्षा उसका परिकर बाँध चुकी थी, बक-सा ध्यान लगाये वह देवभूतिको ताक रहा था, काग-सी चेष्टा उसकी सजग थी। मदनिकाको उसने साधा। उसका सर्पिल पाश लिये देवभूतिके कण्ठमें उसे यमवत् फेंकनेको वह आतुर हो उठा। चोट

खाई नागिन-सी, मदनिका संहारक उछालके लिए कुण्डली छोड़, फन उठा, वसुदेवके करमें काल-सी नाचने लगी।

देवभूति आपानक करता, जाह्नवीके रागको सभी प्रकारसे गहरा करनेके साधन जुटाता, पर उससे रानी उसकी ओर खिंच न पाती। राग तन्द्रा लाता है, तन्द्रा बाहुओंकी दोला ढूँढ़ती है। राजाके पास जाह्नवीके लिए राग था, तन्द्रा थी, पर बाहुओंकी दोला न थी। उसके बदले वह रागको और गाढ़ा करता, तन्द्रा उससे और अँगड़ाइयाँ लेती, पर उसका आलोडन न हो पाता। राजा लाचार था, रानी उस लाचारीकी शिकार थी।

राजा अनुनय करता, रानी खीझती। राजा साम्राज्यकी समस्याएँ, उसके वैभव, उसकी शक्ति रानीके सामने रखता, रानी तीनोंसे परे थी, उदासीन। पर राजाकी मर्यादाका उसे ध्यान था, उसने उसकी मर्यादामें, उसकी शानमें किसी प्रकारका बट्टा नहीं आने दिया। पतिव्रताओंकी भाँति वह राजाकी बाट जोहती और जब-जब राजा आता तब-तब वह अपने सौजन्यसे अपनी घनी संवेदना उसे देती, पर स्वयं अपनी वेदना वह छिपा न पाती। राजा वह वेदना जानता था। उसके लिए उसका विशेष आदर भी करता पर आदरसे वेदनाकी दवा तो न हो पाती, अनेक बार और उभर जाती।

पर चारा ही क्या था। रनिवासका रवैया ही यही रहा था सदासे। सदासे अन्तःपुरमें एक राजा साधका उद्यान लगाता आया था। लावण्यकी एकसे एक पौध वह उद्यानमें लगाता, फूलोंको एक-एक कर वह लोढ़ता, पर समर्थसे समर्थ, कुशलसे कुशल माली भी भला समूचे उद्यानको अकेला कैसे देख सकता है? पौधोंसे अंकुर होते हैं, कलियाँ फूटती हैं, लताएँ रेंगती हैं, वृक्षोंपर पोर-पोर पत्ती-पत्ती छा जाती हैं। उद्यान जंगलका रूप धारण करता है, जीवन लहराकर हजार धाराओंसे बह चलता है। क्या करे माली?

क्या करता राजा ? उसे जो पता होता कि रनिवासको भरना आसान है पर उसका पालन कठिन है तो शायद वह चयनसे ही विमुख हो गया होता। पर अब तो वह लाचार था। जाह्नवी उसकी लाचारी समझती थी और अपने मनको जतनसे मना रखती थी। रानियोंके राग-रंजनके अनेक साधन थे, उन साधनोंकी सम्हाल दासियाँ करतीं, क्लीब करते, कंचुकी करते। कुछ भी ऐसा न था जो उन्हें उपलब्ध न हो सके, पर जाह्नवी उस रनिवासके रवैयेमें अपवाद थी। उसने किसी दासीको अपनी आवश्यकताके लिए मुँह न लगाया, किसी क्लीबसे मनकी व्यथा न कही, किसी कंचुकीकी सहायता न चाही।

पर वसुदेव उसकी पीड़ा जानता था, मदनिका भी जानती थी उसकी वह पीड़ा। पर दोनों उससे उदासीन थे। स्वार्थ और इष्टके समर्थ साधकको भवकी बाधाएँ नहीं खलतीं। दोनों अपने-अपने इष्टके सम्पादनमें लगे। वसुदेवको मगधका साम्राज्य चाहिए था, मदनिकाको अपने नारीत्वके अपमानका बदला। दोनोंका साध्य समान था—देवभूतिका निधन। दोनों समानधर्मा हुए।

दोनों एक दूसरेका इष्ट जानते थे, दोनों समान इष्टके सम्पादनके लिए कटिबद्ध हुए। पर जब पुरुष और स्त्री किसी कारण मित्र बनते हैं तब उनमें मात्र मैत्रीका सम्बन्ध नहीं होता, उनमें परस्पर पिण्डका भी प्रवेश होता है, मन और शरीर दोनों तब एक-दूसरेसे अपना भाग माँगते हैं। वसुदेव और मदनिकाकी मांसल सत्ता भी तब मात्र मैत्रीकी परिधि लाँघ गई। दोनोंने परस्पर मानसका परिवर्तन कर लिया। दोनोंके तन व्यवहारत: एक होकर भी उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे जब वसुदेव राजा हो और मदनिका रानी। उसके लिए देवभूतिका मार्गसे हट जाना आवश्यक था।

वसुदेवने मंत्र दिया, मदनिकाने उसे साधा। शिशिरका जब अवसान

हुआ, बसन्त जब जागा, आमकी मंजरियाँ जब अपने कोशमें मकरन्द बाँधने लगीं, कोकिल तब उसके स्वादसे अफर रवने लगा। और तभी वसन्तोत्सवके अवसरपर जाह्नवीने काम-पूजाका आयोजन किया।

नये किसलयों, अर्धस्फुट कोरकोंसे उसने अपने प्रासादके अलिन्द सजाये, द्वारके मकर-तोरण। शयनागारकी दीवारें चित्रोंसे लिख गयीं। शय्या समूचे फूलोंसे, कोमल गजरों-मालाओंसे सज गयीं, कक्ष परागकी सुरभिसे गमक उठा। कुसुमोंके बाससे बसी मदिरा नासिकाके रन्ध्रोंको छेड़ने लगी। धूप-अगुरु-केसरसे वायु बोझिल हो उठा। जाह्नवीका शयनागार इस प्रकार सज जानेपर वह स्वयं भी सज चली।

सौन्दर्यके धनीको प्रसाधनकी आवश्यकता नहीं होती, पर प्रसाधन सौन्दर्यको उमगा देता है। जाह्नवीकी रूपराशि अप्रतिम थी, शृंगारने मणिका संस्कार कर दिया, मणि चमक उठी।

आधी रात दमकती ज्योत्स्नामें शयनागारमें प्रवेश होता था। राजा एक ओरसे आता था, रानी दूसरी ओरसे। वसन्तका वह उत्सव अभिसारका रूप धारण करता था। रतिका अभिसार था वह, मदनके प्रति। शुक्लाभिसारिका रानी श्वेत वसनोंमें सजती, धवल मुक्ताओंके अलंकार धारण करती। समूचा उद्यान रिक्त होता। कंचुकी और क्लीब, दास और दासी दूर हट जाते। फिर एकान्तके छोरसे रानी निकलती और राजाकी शय्याकी ओर बढ़ती।

जाह्नवी अपने प्रासादसे निकली, कुसुम शय्याकी ओर अभिसारिका बन चली। पर जैसे ही वह माधवी कुञ्जकी ओरसे निकली सहसा उसकी साँस बन्द हो गई। उसे लगा कुछ हो गया, पर क्या हो गया, उसने न जाना, न किसीने जाना। धरा उसे जैसे निगल गई।

क्षण भर बाद अभिसारिकाके परिधान पहने जाह्नवीका रूप बनाये मदनिका स्वामीके शयनागारमें पहुँची। शय्याके समीप राजा खड़ा उत्सुक

राह देख रहा था। जाह्नवीको प्रवेश करते देख वह ससंभ्रम उसकी ओर बढ़ा, उसे छातीसे लगा लिया। क्षण भर बाद ही उसका निर्जीव शरीर शय्यापर लुढ़क गया। मदनिकाने हाथका शंख फूँक दिया।

सहसा अनेकों शंख बज उठे। सेना स्कन्धावारोंसे निकल आयी। सभागृहमें सिंहासनपर वसुदेव विराजमान था। मन्त्री-सभासद् यथास्थान खड़े थे, पुरोहित राजतिलक कर रहा था। यह शुंगोंकी राजलक्ष्मीका निशीथकी वेला, कण्व वसुदेवके प्रति अभिसार था।

बिहिश्तका महल

हिन्दू-पार्थव राजाओंने पहली सदी शुरू होते-होते पश्चिमी पंजाबपर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। पार्थव और पह्लव एक ही थे—ईरानी; और यदि पूरे ईरानी न थे तो कम-से-कम ईरानी सम्राटोंकी प्रभुता वे मानते थे।

महात्मा ईसा हाल ही में मरे थे और उनकी सूलीकी ख़बर धीरे-धीरे उनके सन्देशके साथ देश-विदेशमें फैल चली थी। वैसे ईसाका महत्त्व इजराइलसे बाहर लोगोंको कम मालूम था। जो जानते भी थे वे बस इतना कि नजरथका ईसा नामका एक बढ़ई पुराने देवताओंसे बग़ावत कर नये साम्राज्यका ऐलान करने लगा था और उस साम्राज्यका सम्राट् शायद वह ख़ुद अपनेको समझता था। सम्राट् तो उन दिनों बस एक ओगुस्तस रोमका था और रोमनोंने समझा कि यह अस्तबलमें जन्मा नाचीज़ ख़ुद सम्राट् होना चाहता है। जब ईसा सूली पानेके लिए जुरुसलमकी गोल्गोथा पहाड़ीपर ले जाया जाने लगा तब रोमन सैनिकोंने उसे लाल चोग़ा पहनाया, उसके सिरपर काँटोंका ताज रखा और 'इम्परेतर! इम्परेतर!' (सम्राट्) कहकर उसकी मखौल उड़ाई। वह क्रूर मखौल कालान्तरमें सही साबित हुई। वर्जिल और होरेसकी काव्य-सम्पदाके धनी रोमन महलोंके सम्राट् और 'अस्तबलके जन्मे' बढ़ईमें समर छिड़ गया। रोमका महल हार गया, बेथलहमका अस्तबल जीता।

पर यह जीत अनायास न हुई। उसके लिए बड़ी क़ुरबानियाँ करनी पड़ीं। ईसाके अनुयायी साधु उसका पैग़ाम ले सीरिया और अन्तियोक, एशिया माइनर और मकदूनिया, यूनान और मिस्र, साइप्रस और रोम चल

पड़े। पर उनका पग-पग लहूसे लथ-पथ था फिर भी सिर हथेलीपर ले वे ख़तरे झेलते बढ़ चले; और वे पण्डित न थे, अधिकतर निरक्षर थे।

इन्हींमें एक सन्त थामस था, ईसाके बारह चेलोंमें एक। उसे पूरबकी विरासत मिली, खासी ख़ूंख़ार विरासत, क्योंकि उस पूरबमें बड़ी बेरहम ख़ूनी जातियाँ बसती थीं। बद्दुओंके घेरेसे निकलते ही ईरानी कबीलाइयोंका साया मिला फिर शकोंका, फिर यूनानियोंका। पर बढ़ चला साधु थामस पूर्वकी ओर, अकेला निरस्त्र, सहारेके लिए हाथका सोटा लिये, गुरुका संवाद पूर्वी दुनियाको सुनाने—नये साम्राज्यके आगमनका, प्रेमका, ग़रीबोंके साम्राज्यका प्रसार करने और यह साबित करने कि बिहिश्तका राज कंगालों-मजलूमोंका है जिसमें धनियोंका प्रवेश पाना उतना ही कठिन है जितना सुईके छेदसे ऊँटका निकल जाना।

ईसाके सूलीपर चढ़े अभी १९ साल हुए थे जब विन्दफर्ण (गुदफर, गोन्दोफर्निस) पार्थव गद्दीपर बैठा। जब दो-तीन साल बाद सन्त थामस हिन्दुकुश लाँघ भारत पहुँचा तब विन्दफर्णका प्रताप तप रहा था। पूर्वी ईरानसे पश्चिमी पंजाब तक सारा भूखण्ड उसीके अधिकारमें था। उत्तर-पश्चिमके यूनानियों और शकोंका वह पूरे रूपसे वारिस था।

एक दिन पश्चिमी पंजाबकी उसकी राजधानीमें इस नये साधुकी चर्चा छिड़ी। तबकी दुनियामें हिन्दुकुशके इस पार तपस्वी बहुत थे, जिनके लिए देखते-ही-देखते आगमें कूद जाना और जलकर मर जाना कुछ कठिन न था। ऐसे भी थे जिनके मुँहसे जब दार्शनिक वाग्धारा निकलने लगती तब देखते ही बनता। ऐसे भी तपस्वी थे, जिनका यश बड़ा था, विद्या बड़ी थी। पर यह जो नया साधु आया कुछ और ही क़िस्मका था। था तो वह औरों-जैसा ही, साधारण लोगों ही जैसा, पर क्रोधका जवाब वह प्रेमसे देता था, गालीका हँसीसे, और किसी हालके मरे और जी उठे ख़ुदाके बेटेकी बात कहता था, उसके राजकी, विहिश्तके राजकी, कंगालोंके राजकी।

तभी, जब अपने देशमें सुपार्श्व और वसुमित्र, अश्वघोष और नागार्जुन दर्शनकी गुत्थियोंमें गाँठ-पर-गाँठ देते जा रहे थे, जब चरक अपनी प्रयोग-शालामें चर्मरोगकी ओषधियाँ खोज रहा था, उत्तरमें हल्ला मचा कि लम्बी दाढ़ी और लम्बे केशोंवाला जो वह सन्त आया है उसके स्पर्श मात्रसे रोग भागता है, कब्रें दरक जाती हैं, मृतक जी उठते हैं। वह ग़ज़बका निर्भीक है, उसमें ग़ज़बका विश्वास है।

विन्दफर्णकी सभामें भी नये साधुके करतबोंके बयान हुए। उसके अनेक दरबारियोंने साधुको बाजारमें प्रेम और कंगालोंके राजका ऐलान करते सुना था, कोढ़ियोंके घाव धोते देखा था। राजाका मन भी साधुको देखनेको ललचा। तभी किसीने बताया कि साधु असुरोंके देशका है, बाबुल-की ओरका, मयका हमवतन। राजा तब महल बनवा रहा था, एक-से-एक बड़ा, एक-से-एक ऊँचा, एक-से-एक अभिराम। उसे लगा, वास्तुके आचार्य, पाण्डवोंका महल बनाकर प्रतिबिम्ब द्वारा दुर्योधनको द्रौपदीका हास्यास्पद बना देनेवाले मयके देशका यह असाधारण साधु, शिल्पमें भी निश्चय गति रखता होगा। उसने साधुको बड़े आदरसे बुला भेजा।

थामसके आनेपर राजाने उससे पूछा—"तुम्हारा उपदेश क्या है, साधु ?"

साधुने ईसाका सन्देश सुना दिया, स्नेहका, बिहिश्तके राजका, कंगालोंके आनेवाले ऐश्वर्यका। विन्दफर्ण उसके तेजोमय परन्तु नरम, मधुर, निराडम्बर वाक्पद्धतिपर मुग्ध हो गया। उसके दरबारी साधुकी सादगी और दृढ़ विश्वाससे चकित हो गये।

विन्दफर्णने अन्तमें अपने मतलबकी बात पूछी—"सन्त, जिस देशके तुम रहनेवाले हो वहाँके शिल्पकी तो बड़ी श्लाघ्य कथा है।"

"सही, उसकी जो नई शैली है उसका मुक़ाबला तो मयके सुन्दर-से-सुन्दर महल भी नहीं कर सकते, राजा।"

राजाने उसका निश्छल उत्तर सुन पूछा—"क्या तुम्हें भी उस शैलीका ज्ञान है, सन्त ?"

"अपने बारेमें कहना नामुनासिब है, पर सुनो—वहाँका सबसे बड़ा राजा मर गया। उसने अपना सारा हुनर अपने ग्यारहों शिष्योंमें बाँट दिया। उन ग्यारहोंमें-से भी कई मर गये। जो कुछ बच रहे हैं उनमें इमारती हुनरकी उस शैलीमें मेरी जगह पीछे न होगी।" साधुने सकुचाते-सकुचाते जवाब दिया।

"फिर मेरे इस प्रासाद-निर्माणके कार्यमें हाथ बँटाओ, साधु, आभार मानूँगा।" राजा बोला।

"सही, राजन्, वह मैं करूँगा। अपना कर्तव्य समझकर करूँगा। पर उसमें व्यय होगा, प्रचुर धन व्यय होगा।"

द्रव्यकी क्या कमी है, सन्त ! जितना चाहो ले लो। साम्राज्यके कोष सुवर्ण और रत्नोंसे भरे हैं। सब तुम्हारे इशारे मात्रसे खुल जायँगे। हुक्म दो और हमारे ख़जांची सब कुछ हाज़िर कर देंगे।"

राजाने अपने क़ौलके मुताबिक ख़ज़ांचियोंको हुक्म भी दे दिया। साम्राज्यके कोष-कपाट खुल गये, धन जाने लगा, तिजोरियाँ ख़ाली हो गईं पर कमी किस बातकी थी ! राज-कर दूर-दूरसे आता था, सौदागर-व्यवसायी अपने लाभका राजभाग धारासार राजकोषमें बरसाते थे। तिजोरियाँ फिर भर गईं, फिर ख़ाली हो गईं, फिर भरीं। इस प्रकार राजकोषसे सन्तने अनन्त धन लिया।

सालभर बीत गया। तब राजा एक दिन साधुसे मिला। साधुने उसे बताया—"काम हो रहा है, इमारतके लिए सामान इकट्ठा हो रहा है। दूर-नज़दीकसे अचरजके रतन मुहैया किये जा रहे हैं। चिन्ता न करो, राजन्, महल जल्दी ही तैयार हो जायगा।"

"चिन्ता क्या हो सकती है भला, तुम्हारे रहते, साधु !" कहकर राजा चला गया।

सालभर बाद राजा फिर साधुसे मिला। तब साधुने कहा—"सामग्री सारी प्रस्तुत है। नीव खुद चुकी है। राजमिस्त्री कार्यमें व्यस्त हैं। चिन्ता न करो राजन्।"

"चिन्ता कैसी, सन्त, भला तुम्हारे रहते!" राजाने कहा और पूर्ववत् चुपचाप चला गया।

तीसरे साल जब राजा अपना महल देखने गया तब सन्तने कहा—काम ज़ोरोंसे लगा है। अगले साल जब तुम इसे देखने आओगे तब देखोगे कि इसके कलस-कंगूरे बिहिश्त चूम रहे हैं, कि उसपर ख़ुदाका साया है। चिन्ता न करो।"

"चिन्ता किस बात की, साधु, तुम्हारे रहते!" कहता सन्तुष्ट राजा विन्दफर्ण फिर चला गया।

अगले वर्ष महीने-महीने सन्त राजाको महलके बननेकी कैफ़ियत देने लगा। आधारके ऊपर दीवारें शिलापर क़िलेकी तरह मजबूत खड़ी हैं, दीवारोंपर अचरजकी छत टिकी है, उसपर दूसरी मंजिल है मंज़िलपर मंज़िल, सात मंज़िल। चारों कोनोंपर दूर चमकते कलश आँखोंको चकाचौंध करनेकी जगह शीतलता प्रदान करते हैं। आओ, राजन् काल और देशकी सीमाओंसे रहित इस अक्षय अट्टालिकामें निवास करो। इसकी खिड़कियाँ खुली हैं, द्वार खुले हैं, पर चोर तो क्या इसमें जमकी साँसका भी प्रवेश नहीं हो सकता। आओ, अपना सर्वस्व छोड़कर, लुटाकर आओ। यहाँ उन लुटाई चीज़ोंका अनन्तगुना संचय है।"—उसने राजाको कहलाया।

"पर अकेले मत आना। अपनी रानियों, बेटों, सम्बन्धियोंके साथ आओ, दरबारियों-परिजनोंके साथ, सेनाओं-अधिकारियोंके साथ, रियाया-

सामन्तोंके साथ, जिससे वे सब तुम्हारा नये महलमें प्रवेश देख सकें; और अपने उन शिल्पियोंके साथ आओ जो अब तक तुम्हारे महल बनाते रहे हैं, जिससे वे देख लें कि शिल्पके इस नये अनुशासनसे प्रस्तुत तुम्हारा यह नया महल कैसा है—इसकी आधारशिला, दीवारें, छतें, कलस-कंगूरे, वज्रलेप, अजेय परकोटे।" उसने फिर कहलाया।

राजा आया। वह अकेला न था। साधुकी इच्छाके अनुसार उसने अपने साथ रानियों-बेटों-सम्बन्धियों-दरबारियों-परिजनों-सेनाओंको ले लिया, रियाया, सामन्तों और शिल्पियोंको। राजकोषकी सारी सम्पदा ख़ुशीमें कंगालोंको बाँट वह सबके साथ साधुके सामने जा खड़ा हुआ।

साधु प्रसन्नमन उसका इन्तज़ार कर रहा था। सबके आ जानेपर उसने राजासे पूछा—"देखा, राजा, तुमने अपना वह महल?"

"नहीं, साधु," राजा बोला।

"तुम्हारे पुराने कृत्य तुम्हें उसे देख सकनेमें आड़े आ जाते हैं। यह राजसी लिबास उतार डालो, इसे पहनो, तब वह महल तुम्हें दिख जायगा।"

उसने राजाको एक चोग़ा दिया और एक सोटा। राजाने राजसी लिबास उतार चोग़ा पहन लिया, सोटा हाथमें ले लिया। उसने पूछा—"कहाँ है मेरा वह महल, साधु? मैं तो उसे अब भी नहीं देख पाता।"

"मूर्ख हो राजा, जो अब भी तुम उसे न देख पाये। सुनो, तुम्हारा सारा धन कंगालोंको बाँटकर मैंने अक्षय महल आनेवाले बिहिश्तमें बना दिया है। उसका द्वार सामने है। प्रवेश करो।" और उसने सामनेकी अपनी कुटीकी ओर हाथ उठा दिया।

राजाने पहले तो उसे पागल समझा, पर जब साधुने ईसाके उपदेश उसे सुनाने शुरू किये, तब वह चेता। अपने नये कपड़ोंको देख उसके क्रोधकी सीमा न रही। उसने साधुको क़ैद कर लेनेका हुक्म दिया। साधु

जेलमें बन्द कर दिया गया। पर जनतापर उसका अब तक काफ़ी असर पड़ चुका था।

जैसे-जैसे कंगाल उसके उपदेश सुनते वैसे-वैसे उन्हें शक्ति मिलती और एक दिन उन्होंने कारा तोड़ साधुको छुड़ा लिया। तब तक मध्य एशियाके कृपाणोंकी लहर पास आ पहुँची थी। विन्दफर्णका साम्राज्य उसमें डूब चुका था। साधु उन नई बर्बर सेनाओंको भी वही प्रेमका सन्देश सुना रहा था, जो उसने विन्दफर्णको सुनाया था, कंगालों-मजलूमोंके नये साम्राज्यका सन्देश।

जब रोमन महिलाओंने भारतीय व्यापारकी रक्षा की

ईसा पूर्व पहली सदीका रोम रोमन इतिहासमें अपना सानी नहीं रखता। उस नगरने तब भूमण्डलपर अद्वितीय साम्राज्य स्थापित किया था। पाम्पे, ग्राचस, जूलियस, अन्तोनीने ग़ज़बके सिपाहियाना तेवर दिखाये थे। इंग्लैंडसे पार्थिया तक, उत्तरी जर्मनीसे नील नदके उद्गम तक सारी पृथ्वी रोमके अधिकारमें थी; सिनेटका बोलबाला था, उसमें जगत् प्रसिद्ध सिसेरो दहाड़ता था, विजेताओंको यथास्थान रख देता था।

रोमन जेनरल लौटते, एक-एक प्रान्तका स्वामी बन अलभ्य ऐश्वर्य भोगते। सैनिक लौटकर गाँवोंमें अमित मात्रामें भूमिके स्वामी बनते, जीवनका मान बढ़ जाता। कुछ दिन और बीते, रोम अपनी शक्ति और वैभवकी मूर्धापर जा चढ़ा। गणतंत्रका रहा सहा रूप भी ख़त्म कर दिया गया, साम्राज्यका स्वामी जूलियसकी बहनका पोता ओगुस्तस सीज़र बना। शीघ्र उसने अपने प्रतापका साका चलाया। जैसे पिछले दिनोंमें भारतीय इतिहासमें गुप्तकाल स्वर्णयुग माना गया, एलिज़ाबेथका युग इंग्लैंडके इतिहासमें स्तुत्य हुआ, रोमका वह युग भी ओगुस्तस-युगके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जब पार्थिव समृद्धिके साथ ही कला-साहित्यकी भी अभूतपूर्व उन्नति हुई, जब होरेस और वर्जिलने काव्य-कलाको अभिराम सजाया।

तभीकी बात है। भारत तब पच्छिमी व्यापारसे जितना ऋद्ध हुआ उतना कभी न हुआ, न पहले न पीछे। उत्तरापथ तो निश्चय लहूलुहान हो रहा था, शकोंकी चोटसे क्षतविक्षत, पर दक्षिणापथ व्यापारकी नींद जागता था। चीनसे अतलांतिक सागर तक सारे देश उसके करतलमें थे।

व्यापारसे धारासार धन देशके बन्दरोंमें बरसता था। मोती, गरम मसाले, और कपड़ोंके व्यापारने रोमका सोना अमित मात्रामें बटोरा।

रोमन सैनिक दक्षिणापथके राजाओंकी शरीर-रक्षक सेनामें भरती होने लगे, ग्रीक ग़ुलाम सेठोंकी पालकी ढोने लगे, यवनियाँ रनिवासोंको अपने सौन्दर्यसे प्रदीप्त करने लगीं। धीरे-धीरे कुछ काल और बीता। अभिजात सैनिक साम्राज्यके दूरस्थ स्कन्धावारोंसे धनवान हो लौटे, रोमके नगरमें विलासमयी लक्ष्मी नाच उठी। रोमने अमरपुरी अलकाका रूप धारण किया। उसके राजमार्गकी अट्टालिकाएँ संगमरमरकी आभासे दमक उठीं, स्वयं राजमार्ग छैलोंके अट्टहाससे गूँजने लगे। अवकाशप्राप्त जेनरल कामुकोंका आचरण करने लगे। सड़कोंपर उनके रक्षकोंके दलके दल उनकी प्रेयसियोंके लिए, कमनीय तरुणोंके लिए एक दूसरेका ख़ून बहाने लगे। अवकाशका ऋद्ध जीवन व्यापारके लिए स्वर्ण अवसर प्रदान करता है, भारतीय व्यापारियोंके भाग्यद्वार खुल गये।

उनकी आढ़तें पहलेसे ही खुली थीं। उनमें अधिकसे अधिक भावके गरम मसाले, महार्ह मोती और रतन, 'मकड़ीके जाले' से महीन वस्त्र भरे थे। प्लिनीने रोममें भारतीय वस्तुओंके विरोधमें देशप्रेमके नामपर आन्दोलनपर आन्दोलन चलाये, पर उनमें रति न तो रोमके छैलोंकी कम हुई, न महिलाओंकी। मकड़ीके जालों-से वस्त्र पहिने भी नंगी रहने-वाली महिलाओंकी बेशर्मीका उल्लेख हुआ, उनके सीमन्तकी मुक्तावलियों, जूतियों, दामनोंपर टँकी मोतियोंकी लड़ियोंपर स्वदेशी आन्दोलनके नेताओंने सकारण रोष किया, गरम मसालोंकी क़ीमतकी ओर संकेतकर लोगोंकी तृष्णापर लानत भेजी। पर उनकी खरीदारी बन्द न हुई। न छैलोंने अपने मोती और फ़िरोज़े छोड़े, न महिलाओंने अपने झीने वसन और मुक्ता त्यागे, न रसोईके मादक मसालोंकी गमक रुकी।

सिनेटने क़ीमतें बढ़ा दीं, दुगुनी-चौगुनी कर दीं, भारतीय वस्तुओंपर दो-दो सौ फ़ीसदी कर लगा दिये, पर उनकी माँग न रुकी, न रुकी।

रोमके छैलोंने, रूपनिधान मंडनप्रिय महिलाओंने, स्वादु भोजनके शौक़ीनों-ने रुचिमें व्यभिचार न होने दिया, भारतका व्यापार बचा लिया। सिसेरो कबका .ख़ूनका शिकार हो चुका था, प्लिनीका इतिहास रोकर मूक हो चुका था, पर भारतीय मोतीका आब रोमके बाज़ारोंमें लोगोंकी आँखोंपर चढ़ा रहा, महीन वस्त्र सुडौल अंगोंपर वायुकी भाँति लहराते रहे, मसालों-की गमक नथनोंके मार्ग प्राणोंको अभितृप्त करती रही। लोग चोरी-डाके-से, जुए-ऋणसे प्रेयसियोंकी माँगें पूरी करते ही रहे, श्रीमानोंके लाड़ले भारतीय व्यापारियोंके नाम अपने प्रासाद, ग़ुलाम और नगर रहन करते ही रहे। सिलाकी चितामें गरम मसालोंकी दो सौ दस गाँठें झोंक दी गई, सम्राट् नीरोने पोपियाको दग्ध करते समय दालचीनी और तेजपातकी साल भरकी समूची उपज आगकी लपटोंको भेंट कर दी। मालाबारके बन्दरोंसे सामान भरा जहाज़ एक नित्य रोमके लिए छूटने लगा।

कल्लाके संगमरमरके प्रासादमें सभ्य-बर्बर संसारकी सभी अनोखी वस्तुएँ सजी थीं। रात सहस्रों प्रदीपोंके प्रकाशसे दिनकी आभा धारण कर रही थी। महिलाओंका मनोरम अन्तरंग महीन मलमलके पारदर्शक तन्तुओंसे साफ़ झलक रहा था, अभिरूप तरुण प्रेयसियोंके प्रसादन और आपानमें व्यस्त थे, सुरुचिमण्डित दास-दासियाँ गमकते भोजनके विविध पात्र लिये भोजन परस रही थीं, धूप-अगुरुका धुआँ वातावरणपर छा रहा था, मदिर वायु मह मह कर रहा था।

तभी प्रधान दासने आवाज़ लगाई—"भारतीय पोतस्वामी धनसेठ पधार रहे हैं!"

धनसेठकी प्रतीक्षा महीनोंसे की जा रही थी। तबके संसारका सबसे बड़ा, सबसे मूल्यवान मोती 'शुभ्रज्योति' कुछ ही काल पूर्व ताम्रपर्णीके मुहानेसे पनडुब्बोंने जानकी बाज़ी लगाकर निकाला था। उसी मोतीको लेकर धनसेठ रोम आ रहा था। तूफ़ानमें पड़ जानेसे पहले तो जहाज़के

डूब जानेका डर हुआ था, रोममें एक तहलका मच गया था, फिर हाल ही उसके बच निकलने और दो-एक दिनमें ही रोम पहुँचनेकी भी ख़बर मिली थी। रोमके कामुकोंकी तृष्णा जग उठी थी, उसी मात्रामें जिस मात्रामें विलासिनियोंकी अलंकार-लिप्सा। लोग उसे ख़रीदनेके लिए धन बटोरने लगे थे, प्रासाद गिरवी रखने लगे थे।

वही शुभ्रज्योति मोती लिये धनसेठ कल्लाके प्रासादमें आ पहुँचा। एक सिरेसे दूसरे सिरे तक लोगोंमें बिजली दौड़ गई। सभी सजग हो उठे। प्रेयसियोंने अपने प्रणयियोंपर और सार्थक दृष्टि डाली, प्रणयियोंने अपने बटुए सम्हाले।

ख़रीदारोंने धनसेठको घेर लिया। धनसेठने व्यापारीकी स्वाभाविक चपलतासे अत्वरित शिथिलतासे धीरे-धीरे नीलमकी डिबिया निकाली। उसमें मोतीका समूचा शरीर दीखता था। आँख उसपर टिकी रह गई। अलक्षित ख़रीदारोंने रोड़े उछालने शुरू कर दिये। धीरे-धीरे जब बोली ऊँची हुई, मूल्य चढ़ चला, ख़रीदारोंकी संख्या भी छँट चली पर कल्ला और तीतस जमे रहे। कल्लाने तीतसकी अनुपम लावण्यवती पत्नी पात्री-शियाको मोती उपहारमें देनेका वचन दिया था, तीतसने कल्लाकी ग्रीक दासी क्रोताकी। बोली चल रही थी, बाज़ी धन-वैभवकी थी, प्रणयकी।

"दस हज़ार दीनार!" कल्लाने कहा!

"बीस हज़ार!" तीतस बोला।

"चालीस!"

"अस्सी!"

"एक लाख!" कल्ला खीझकर बोला।

"कार्थेज!" तीतसने उत्तरमें नगर अर्पण कर दिया।

"जेनोआ!" कल्लाकी आवाज़ ऊँची उठी।

"ट्यूनिस, मीलान!" जेनरल तीतस गरजा।

"आतेलियर !" कल्लाने अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया। चारों ओर-से विस्मयकी लहर उठी। 'आतेलियर' कल्लाके प्रासादका नाम था। उसमें साम्राज्योंकी क़ीमत सिमटकर आ गई थी। संसारके दर्शनीय कलादर्श, महार्हतम रत्न, अनन्त धन, जिसकी समता इटलीके सारे नगरोंकी एकत्र सम्पदा भी नहीं कर सकती थी। 'शुभ्रज्योति' कल्लाका हुआ, 'आतेलियर' धनसेठका।

उसी रात जब कल्ला पात्रोशियाके साथ सोया हुआ था तीतसने उसकी पीठमें छुरा मारा। कल्लाके प्राणपखेरू उड़ गये। अन्धकारमें भी भूमिपर पड़ा शुभ्रज्योति चमकता रहा।

जब रोम भारतीय काली मिर्चके मोल बिका

बात इतिहासकी है, सन् ४१० ईसवीकी। अब रोमकी वह हस्ती तो न थी पर सूरज उसका अब भी तप रहा था, यद्यपि सूरज वह मध्याह्नका न था, तीसरे पहरका था, ढलता सूरज। फिर भी ज्योतिष्मान् था वह और पृथ्वी और आकाशकी कोई अग्नि अभी उसके तेजकी बराबरी नहीं कर सकती थी।

एक दिन था जब रोमका सम्राट् भारतीय महासागरमें अपने जहाजी बेड़े भेजता था, जब भारत और चीनके दूत-मंडल उसके दरबारमें उपस्थित होते थे, जब उसके साम्राज्यकी सीमाएँ अरब और चीनसे स्पेन और इंग्लैण्ड तक, कास्पियन सागर और जर्मनीसे नील नदके उद्गम तक फैली थीं, जब संसारकी सारी सड़कें अमरपुरी रोमको जाती थीं।

अब बात निश्चय वह न थी। सम्राट् थियोदोसियास महान् पन्द्रह साल पहले ही अन्तिम निद्रामें सो चुका था, साम्राज्यकी चूलें आभिजात्योंके आन्तरिक संघर्ष, इन्द्रिय लोलुपता और लूटकी तृष्णासे हिल चुकी थीं। चार सौ वर्ष पूर्व जिस विपद्की ओर गुलामोंके विद्रोहने संकेत किया था उसकी परिणति आँखोंके सामने घट चली थी। पूरबकी तातार जातियोंने चीनके उत्तर-पच्छिमसे रेला बोला था, हूणोंकी तलवार और आगके सामने मध्य एशियाके राज्य उखड़े जा रहे थे। उनकी चोटसे दक्खिनी रूससे पूर्वी गाथ भभरकर भागे, उनके सामने पच्छिमी गाथोंकी लश्करें चलीं। गाथोंकी चोटसे वण्डल उखड़ गये, हंगरीसे उठकर वे दक्खिन बढ़े, समृद्ध रोमन साम्राज्यपर वेगसे टूटे।

वण्डल, गाथ और हूण। वण्डल अपनी संहार नीतिसे यूरोपीय साहित्य और भाषाओंमें अपने नामका पर्याय छोड़ गये हैं, गाथोंकी शक्ति अनवरुद्ध थी, और हूणोंके संक्रमणकी क्रूर कथा उनकी राहके उजड़े गाँव और जले नगर कहते थे। तीनोंकी चोट प्रायः एक साथ रोमपर पड़ी।

रोमसे कभी वण्डलोंने शरण माँगी थी और रोमने उन्हें शरण दी थी। उन्हें उसने अपनी सरहदमें बसा लिया था, हंगरीमें, गाथोंने भी उससे शरण माँगी थी, उन्हें भी दी थी उसने पनाह और डैन्यूबके तटपर रूमैनियाँ बलगेरियामें उन्हें भी बसा लिया था। साम्राज्य दो भागोंमें बँट चला था लातीनीभाषी पच्छिम और ग्रीकभाषी पूरबमें। पच्छिमी साम्राज्यका केन्द्र रोम था, पूरबीका बीजेन्तियम् जो ईसाई महान् रोमन सम्राट् कान्स्तोन्तीनके नामपर कुस्तुन्तुनियाकी नयी संज्ञा धारण कर चला था। जब पच्छिमकी चोट अनिवार्य हो उठती साम्राज्य कुस्तुन्तुनियाकी ओर सरक जाता, जब पूरबका ख़तरा आकार धारण करता साम्राज्य रोमका आसरा करता। और उस विशाल साम्राज्यकी सन्धियाँ इस पूरब-पच्छिमके आवागमनसे ढीली हो गईं। कुछ अजब न था कि एक दिन सहसा चक्केकी धुरी टूट जाय।

इटली और पानोनियाकी रोमन सेनाओंका सेनानी इस समय स्तिलिचो नामक वण्डल था, वालकन प्रायद्वीपकी रोमन सेनाओंका अलारिक नामका गाथ। थियोदोसियसके दो बेटे थे, आर्कीदियस और ओनोरियस, दोनों एक-से एक अगियाबैताल। दोनों साम्राज्यके लिए जूझ चले। अलारिकने पहलेका पक्ष कुस्तुन्तुनियामें सँभाला, स्तिलिचोने दूसरेका रोममें। आभिजात्य दोनों ओर स्वार्थ और सुविधावश बँट गये।

अलारिक और स्तिलिचो स्वयं साम्राज्यके लिए लड़ रहे थे। संघर्षकी भीषणता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। अलारिककी क्रूरता दूर-दूरके

रोमन प्रान्तोंमें आतंकका संचार कर रही थी। रोमके नागरिक भयविह्वल कातर हृदयोंसे संघर्षके परिणामकी ओर देख रहे थे। जानते थे कि बर्बर दोनों हैं, अलारिक भी, स्तिलिचो भी। किसीकी विजयसे रोमका कल्याण नहीं। पर चारा ही क्या था? पोम्पे और जूलियसका शौर्य कबका सो चुका था। रोमके प्रान्त वण्डलों और गाथोंकी चापों चले कबके रौंदे जा चुके थे। स्वयं वह अमरपुरी अपने भाग्यकी रक्त भरी धुँधली रेखा पहचान रही थी। युद्ध दिन-दिन उत्तरसे दक्खिनकी ओर पूरब-पश्चिमसे रोमकी ओर बढ़ता आ रहा था। रोमकी समृद्धिके लिए वण्डल और गाथ जूझ रहे थे।

अलारिक जानता था, स्तिलिचो भी, रोमके वैभवका वैपुल्य। कितना सोना उसके आभिजात्योंकी तिजोरियोंमें भरा था, कितना अतुल धन उसके नागरिकोंके कोठोंमें ठसा था। रोमन जेनरलोंका विक्रम दिशाओंसे सिमटकर नगर बाहरके उनके विलास-भवनोंमें रम गया था। पर आज उस विलास-की वस्तु-वस्तुपर उसकी एक-एक शरमायी रौनकपर भावी विपद्‌की छाया डोल रही थी। अलारिक और स्तिलिचोंका भय व्याप रहा था।

सहसा वण्डलोंके भाग्यकी धुरी टूट गई। स्तिलिचोंकी सेनाएँ तितर-बितर हो भागीं। गाथ लम्बार्दीके मैदानमें फैल गये। पो नदीकी प्रशस्त धारा भी उनके जलाये गाँवोंकी आग न बुझा सकी। रोमकी अट्टालिकाएँ लपटोंकी कल्पनाकर अपनी घोर जड़ताके बावजूद काँप उठीं।

रोमके श्रीमान्, उसके सेनेटर और जेनरल, उसके सेठ-साहूकार मथ गये। आज सभ्य नागरिकोंसे पाला न था, आज बर्बरता अलारिक-सा वज्र उछालती रोमपर चढ़ी आ रही थी, और उसके सामनेकी भागती रोमन गाँवोंकी भीड़ रोमकी प्राचीरोंके सातों द्वार तोड़ चुकी थी। रोमके आकुल व्यसनी दक्खिनकी ओर भागे, सिसिली, कोर्सिका, सार्दीनियाकी ओर, समुन्दर पार कार्थेजकी ओर। कार्थेज अपनी झुलसी मीनारोंसे रोम-का भावी संकट मन ही मन आँक पुलक रहा था। रोमका वैभव कभी

उसका भी रहा था। उसके लाड़ले हैंनिबलने कभी सागर लाँघ स्पेन जीता था, रोमपर क़ब्ज़ा कर उसके मैदानोंमें लोहेसे लोहा बजाया था। पर उसके हारते ही रोमके जेनरलोंने, स्कीपियोंकी सेनाओंने कार्थेजका वैभव धूलमें मिला दिया था, उसकी अपार संपत्ति लूट ली थी, उसके प्रासादोंमें आग लगा दी थी, नहरोंके अनुपम शिल्प कुचल डाले थे। निःसन्देह कार्थेजकी आँखें रोमपर लगी थीं।

× × ×

रोमपर चील मँडरा रहे थे। मरे हुओं और घायलोंकी संख्या सड़कों-पर बेइन्तहा थी। पर अभी तीन दिनोंके लिए अलारिककी आज्ञासे संहार-कार्य रुका हुआ था। रोम अपने जीवनके लमहे गिन रहा था।

दूरसे आये गाथ लूटकी आशा दबाये शहरके बाहर ख़ेमोंमें पड़े थे। रोमके अतुल वैभव, उसका अमित स्वर्ण, अभिराम वसन, अनुपम मोती उन्हें बरबस अपनी ओर खींच रहे थे। उसकी विलासिनियोंका सौन्दर्य जगत् प्रसिद्ध था, गाथ-युवकोंके चित्त उनमें लगे थे। सालोंकी तृष्णा दबाये अमरपुरीके द्वार वे प्रतीक्षामें खड़े थे कि कब अलारिकका प्रतिबन्ध हटे, कब वे अपनी चिर-संचित साधें, निर्मम अरमान पूरे करें।

साम्राज्यके दूत अलारिककी सेवामें आ उपस्थित हुए। कहा—हमें कुछ भी अदेय नहीं, स्वर्ण, धन, अन्न, जो चाहो माँग लो, हम दे देंगे, पर रोमकी ज़िन्दगी बख़्श दो। उसका संहार न करो।

अलारिकने संहारका हाथ रोक दिया। उसके मनमें कुछ उचक रहा था। किसीने न जाना, क्या? पर सुलहकी बातचीत उसने करनी स्वीकार कर ली। उसने कुछ माँगा भी रोमकी अमित संपदाके बदले, अमरपुरी के संख्यातीत नागरिकोंके प्राणोंके बदले। और उस माँगने सुननेवालोंको चकित कर दिया।

बीस साल पहले अलारिक एक बार डैन्यूबके तटपर रोमनोंका बन्दी हो गया था। जेनरलकी रसोईके पास ही वह बँधा पड़ा था। रसोईसे गरम मसालोंकी गमक उसके भूखे नथनोंको भर रही थी। रसोइयेने उस-पर तरस खाकर, उसके जीवनपर काल मँडराता जान, उसे राजाओंका वह अलभ्य आहार दे दिया था। और तभीसे वह भारतीय मसाला अला-रिकके अरमानोंका इष्ट बन गया था।

रोमके श्रीमानोंसे उसने माँगा—नगरकी रक्षाका मूल्य है १५०० सेर गोल मिर्च।

गोल मिर्चकी क़ीमत सुवर्णसे कहीं अधिक थी। सोनेके दीनार तिजो-रियोंमें भरे पड़े थे, साम्राज्यके प्रान्तोंसे आये रत्नोंकी बेशुमार दौलत ख़ज़ानोंमें गँजी थी, पर भारतीय काली मिर्चकी क़ीमत असाधारण थी। फिर इतनी मात्रा उस अलभ्य पदार्थकी कहाँसे आये ?

पर जीवनका मोल सबसे ऊँचा होता है। श्रीमानोंने जन-जनकी रसोई छानी, सिनेटने नई घोषणाओंसे मिर्च रखना प्राणदण्ड द्वारा दण्ड-नीय घोषित किया। नागरिकोंकी रसोइयोंसे, दुकानोंसे, रोमके बन्दरमें खड़े जहाजोंसे वह भारतीय अलभ्य वस्तु इकट्ठी कर ली गई। १५०० सेर गोलमिर्च तुरन्त प्रस्तुत हो गई।

अलारिक और उसके सामन्त उस काली राशिको आँखें फाड़ फाड़ निहारते रहे। वह गाथ सैनिकोंकी बलवती लूटकी तृष्णाका मूल्य थी, रोमके प्राणोंकी क़ीमत। अमरपुरीका संकट टल गया।

परमारका बन्धन और मोक्ष

बात क़रीब हज़ार साल पुरानी है। तब मालवामें, परमारोंका सूरज तपता था। परमार भी, प्रतीहारों चौहानोंकी ही भाँति अग्निकुलीन क्षत्रिय थे, जिन्होंने अन्यत्रसे आकर, हमारी धराको अपना पौरुष भेंट किया था। मालवाकी वसुन्धरा परमारोंकी कीरतिसे उमँगी। सीयक-हर्ष, मुंज, सिन्धुल, भोज, एक-एक कर उसके स्वामी हुए, एक-एकका वैभव मालवाके आकाशमें छाया, उसके यशका आलोक बना।

मालवाकी भूमि शस्य-श्यामला है, अन्नराशिप्रभवा; जिससे उसने प्राचीन कालसे ही जातियोंको अपनी ओर खींचा है। रावीके मालव, सुह्मके शक, गोरके पठान, सभी बारी-बारी उसे भोगते रहे हैं, सभीने उसके वनों-मैदानोंका सुख जाना है। उसकी-सी साँझ कहीं नहीं होती, उसकी-सी स्निग्ध कहीं रजनी नहीं होती।

उसी मालवाके लिए, दक्षिणके राष्ट्रकूट और उत्तरके प्रतीहार, सदियों एक-दूसरेसे टकराते रहे थे—उसकी प्राचीना उज्जयिनीके लिए, उसकी मण्डपिका, धाराके लिए, और पश्चिमी जगत्से सागरकी राह आनेवाले उसके सौदागरी मालके लिए। इन्हीं रजवाड़ोंकी टकराती तल-वारोंसे एक दिन एक चमक निकली, जिसने बादमें दिशाओंको अपनी चकाचौंधसे भर दिया। वह चमक परमारोंकी थी—सीयक-हर्षकी, मुंज-की, सिन्धुल और भोजकी।

कहानी मुंज की है और यह बस कहानी ही नहीं है, इतिहास है, बेतवा-सिप्राकी धारा-सा निर्मल, विन्ध्यकी पर्वत-मेखला-सा व्यापक, अचल! दसवीं सदीके बीच सीयक-हर्ष, अपने प्रभुओंकी सत्ता मालवासे

उखाड़, देशका नायक बना और राष्ट्रकूटों-हूणोंसे मालव लक्ष्मी छीन, उसने उज्जयिनी, मांडू, धाराको एक कर लिया। मुंज उसीका पुत्र था, पितासे कहीं महान्, कहीं मतिमान्, कहीं सूरमा।

मुंज जब पिताकी गद्दीपर बैठा, तब मालवाके वन-प्रान्तर, उसके गिरि-गुहा, खेत-खलिहान, नये धनसे अघा रहे थे। प्राचीना उज्जयिनीकी छाया-में मांडूके पर्वतोंके अंचल महलोंसे भर गये, धाराकी धरा सरोवरोंसे सँवर उठी। मुंजसागर आज भी धाराका विशद सरोवर है, जिसकी शीतल वायुने राजा भोजके महलोंको भरा था। मुंज स्वयं कवि था, अभिराम गायक, और दूर-दूरसे कवि और पण्डित संरक्षाके लिए उसके दरबारमें पधारे। भट्ट-हलायुध और पद्मगुप्त, धनिक और धनञ्जय अपने ज्ञानका सौरभ उज्जयिनी और धारामें लुटाने लगे।

उसी मुंजकी कहानी है, उसके अन्तकी कहानी। चालुक्योंको परमारों-का मालवाकी स्वर्णभूमिपर यह उठता ऐश्वर्य सह्य न हुआ। उन्होंने उनकी उभरती शक्तिका परिचय न पाया था। वे मालवापर चढ़ आये। उसके खलिहानोंको अबतक वे लालसासे, दूरसे देखते रहे थे। अब वे उसके सीमान्तपर उन्हें लूटने लगे। मुंजका इन्द्रासन डोला, उसकी तलवार म्यानसे निकल पड़ी। और एक बार जो वह म्यानसे बाहर निकली तो फिर उसमें लौटी नहीं, शत्रुओंपर आग बरसाती रही। चालुक्योंके धावे फिर तो अतीतकी कहानी बन गये। पर मुंजकी खड्ग-धारा फिर न रुकी, चालुक्योंकी ओर सालों-साल बहती ही रही। उनके राजा तैलप द्वितीयको उसने बार-बार हराया, बार-बार बन्दी किया। बन्दी कर-करके छोड़ दिया।

पर एक दिन, वह स्वयं तैलपके जालमें जा फँसा। रानियोंने मना किया, मन्त्रियोंने मना किया, मुंज नहीं माना। उसने कहा—'नित्य युद्ध ठाननेसे अच्छा है एक बार ही चालुक्योंके आधारको नष्ट कर देना।' फिर तो चालुक्योंकी राजधानी वातापी उसकी आँखोंमें खटकने लगी और

श्रीवल्लभ मुंज तैलपके राज्यमें धँसता चला गया। इस बार उसका तैलपपर इतना क्रोध था कि उसे अपनी सेनाके पीछे छूट जानेकी भी सुधि न रही और वह वेगसे अपना घोड़ा बढ़ाये अकेला आगे निकल गया। गोदावरीकी चौड़ी धारा सामने थी; सेना ठिठकी, मुंजने स्रोतमें घोड़ा डाल दिया और तैरकर गोदावरी पार हो गया।

गाँव-नगर लाँघता, मंज़िल-पर-मंज़िल लाँघता, मुंज जब वातापीसे कुछ ही दूर रह गया तब उसने जाना कि उसकी रसदकी राह कट गई, कि गाँव, जो अबतक निरीह जान पड़ते थे, सहसा सचल हो उठे हैं, कि राहके गाँवोंसे अन्नराशि गायब कर दी गई है। मुंजने सेनापतिकी ओर देखा सेनापतिने संचारककी ओर। दोनों निरुत्तर थे। मुंजने अब अपनी ग़लती समझी।

तभी तैलपकी सेना उमड़ती सामनेकी ओरसे आ पहुँची। मुंजने अपनी हरावल तैलपकी सेनापर झोंक दी। तैलपकी सेना पीछे हटी, हटती गई, मुंज उसके पीछे चला। तभी सहसा दाहिने बाज़ूपर हमला हुआ, मुंज दाहिने घुमा। उधर सामने भागनेका नाट्य करती, शत्रु-सेना लौटी और उसने मुंजके बायें बाज़ूपर चोट की। तभी मुंजके पीछे, सामने, दायें, बायें, चारों ओरसे हमला हुआ। न जाने कहाँसे, ज़मीन सेनाएँ उगलने लगी। मुंजकी हरावल टूट गई, उसकी सेना चूर-चूर हो गई। अब जो उसने अपनी बची टुकड़ी लिये तैलपकी सेनाके बीचसे निकल जानेका उपक्रम किया तो चालुक्य सेना यन्त्रकी भाँति सहसा फट गई, और मुंजके अन्तरालमें प्रवेश करते ही वह सिमट आई—जैसे पृथ्वी फटी और उसे अपने उदरमें ले पूर्ववत् बराबर हो गई। वाक्पति मुंज बँध गया। पौरुष असहाय, मूढ़ हो गया। शौर्य ताकता रह गया, कौशलके नागने, अपने हज़ार पाशोंसे उसके अंग-अंग निस्पन्द कर दिये।

वातापीके महलोंके पीछे, वेणुवनकी सीमापर, वह कारा थी, जिसमें

अमोघवर्ष वाक्पति मुंज श्रीवल्लभ वन्दी था। बन्दी कभी वाक्पतिके विरुद गाते थे, दक्षिणापथके राजा कभी उसके प्रसादके लिए अपनी मुकुट-मालाओंकी मकरन्द उसके चरणोंपर बखेरते थे, आज वही मुंज दूसरोंका बन्दी था, किरीटहीन, अनुचरहीन।

जब चालुक्यराज तैलप उसपर अपने व्यंग-बाण छोड़ने आता, तभी कारा एकान्त पदोंकी चापसे, वैतालिकोंके आलोक-शब्दोंसे मुखरित होती। वह अकिंचन शत्रुकी मर्मको छेद देनेवाली बातें चुपचाप सुनता और चुप रह जाता। पिंजरेका व्याघ्र जैसे पूँछसे मूँछ तक क्रोधसे हिल जाता, पर अचल चुप खड़ा रहता, बेसुध-सा।

उसके भाग्यहीन एकान्तमें बस आशाकी एक ही क्षीण रेखा बची थी। वह रेखा भी कुछ अपने उद्योगका आलोक न थी, विधिकी आकस्मिक विडम्बना, जिसे अन्धकारगत राजाने अपना आलोक माना। आशाकी वह रेखा थी तैलपकी कन्या 'रेखा'।

रेखा आपादमस्तक सौरभकी एक घूँट थी, रागकी मोदमयी शृंखला। जब वह मण्डन करती तब उसके रूपका जादू प्रसाधिकाओंको चकित कर देता। हाथोंमें तूलिका लिये, वे खड़ी रह जातीं। उनकी काँपती उँगलियाँ तूलिकाको अपदस्थ कर देतीं। स्थितिकी जानकार रेखा स्मित हाससे चमक उठती, ठमकी-ठगी प्रसाधिकाओंको अमृतवाणीसे आश्वस्त कर देती। और मण्डनके अन्तमें, जब वह दीर्घकाय अनिन्द्य दर्पणके सामने खड़ी होती तब जैसे दर्पण पर झाईं दौड़ जाती। ऐसी थी वह रेखा।

और वही रेखा मुंजके मानसकी एकान्त स्वप्न थी। राज छूटा, रनि-वास छूटा, वैभव और विलास छूटे, पर रागकी एक रेखा रेखाकी ज्योतिसे चमक उठी। पहली सन्ध्या गोधूलिके धुँधलकेमें जब रेखा चुपचाप काराके द्वार खड़ी हुई थी तब मुंजका अन्तर-बाहर प्रभापुंजसे भर उठा था। असत्यमें सत्यकी कल्पना साकार करने वाला कविराज मुंज तब जैसे यथार्थ

को भी स्वप्न मान बैठा था और उसके मोहका बन्धन तभी टूटा था जब रेखाने विकल वाणीसे कहा था—'अवसादमें एकाकी नहीं हो, राजन्, मौनके नीरदको मुखर मानो'।

और तब चकित निस्पन्द राजाकी मोहविजड़ित काया यह जाननेके लिए झकझोर उठी कि सावधि सत्य है या भाव-जगत्का स्वप्न, और तभी वाणी फिर सुन पड़ी थी—

'चालुक्यराजकी रेखा हूँ, राजन्, तैलपकी नन्दिनी, कन्या। स्वप्नको सत्य करने आई हूँ, देखो!'

और मुंजने मस्तक उठा दिया था, कहा था—'अभिराम कल्पने, स्वागत! हाँ, आई याद। देखा था, देखा था तुम्हें, देवि, महलके उस जनसंकुल द्वारके अलिन्दपर, जब सारा महल मुझ पकड़े-जकड़े जन्तुको देखने दौड़ पड़ा था। देखा था, कोमल वर्तिकाकी स्निग्ध लौ-सी तुम सबसे अलग खड़ी थीं, सबसे निराली, भिन्न। पर, देवि, अब राजन् कह कर मेरा उपहास तो न करो!'

'राजा अमित संज्ञा है, देव। मोक्ष और बन्धनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सूर्यके शालीन घामकी भाँति उसका स्पर्श सब पा सकते हैं पर उसे कोई पकड़ नहीं पाता, बाँध नहीं पाता। फिर भी निराश न हो, राजन्, जीवनकी घड़ियाँ अनन्त शेष हैं और अभी उज्जयिनी-यात्राका प्रबन्ध करके आई हूँ।' रेखाने वेगसे कहा था।

फिर राजाकी सालस वाणी धीमी फूट पड़ी थी—'नहीं, देवि, नहीं। वह लालसा अब तज चुका हूँ। उज्जयिनीकी राह अब विस्मृत हो चुकी है। जानता हूँ, मालवा भी अब अपने मुंजको भुला चुका है। अब इस कारासे कहीं जानेकी इच्छा नहीं, कुमारी!'

'उज्जयिनी आज भी वातापीकी राहपर पलक बिछाये पड़ी है, राजन्! मुंजका रनिवास विकल अपने आराध्यकी प्रतीक्षा कर रहा है।

आज भी मालवाके कवि और गायक पदके लालित्यको कंठमें रोके निस्पन्द खड़े हैं। जाओ, वाक्पतिराज, जाओ, अपने महलोंकी ओर! अपनी मूक भारतीकी संरक्षित सम्पदाकी ओर जाओ! द्वारकी ओर, उन घनी झाड़ियोंके पीछे, वेणुवनकी झुरमुटसे लगा तुम्हारा अश्व खड़ा है। देर होनेसे संकटकी सम्भावना है।'

'ना, देवि,' तब मुंजने कह दिया था, 'अब मोक्षकी कामना नहीं। सिन्धुलका पुत्र भोज भारतीका अनन्य उपासक है, काव्यासक्त तरुण, अक्षय नादका विज्ञाता। 'भारतीकी संरक्षित सम्पदा'की ललित साधना अब वही करेगा। मेरे रेखांकित मर्मको अब कहीं अपनी परसकी परिधिसे दूर न भेजो, भगवति!'

और चुपचाप अपने स्निग्ध करको बोझिल मनसे रेखाने, मुंजके मस्तकपर फेर दिया था। फिर सन्ध्याके गहराते झुटपुटेमें वह अपनी गतिहीन काया लिये चली गई थी। पुलक उसकी फिर लुप्त हो गई थी। रोमराजि प्रकृत सो गई थी।

पंजरपर अब अपना बस न रहा था। चन्द्रमाको देख जैसे सागर अन्तरसे आन्दोलित हो उठता है, जैसे उसकी वेलाएँ शशिकी कोमल मरीचियाँ चूमने उचक पड़ती हैं वैसे ही रेखाका क्रन्दित अन्तर मुंजकी ओर रह-रहकर लपक जाता, वाणी बोलती-बोलती सहसा निस्पन्द हो रहती।

× × ×

ऋतु-चक्र समाप्त हुआ। मुंजको सुधि तैलपको आई, जब उसने जाना कि कन्याकी ममता शत्रुके मर्मसे बँध गई है। अपने ही अन्तरंगको इस प्रकार विद्रोह करते देख वह खिझ गया। उसने सोचा था कि एक बार मालवराजको बन्दीकर फिर वह उसे न छोड़ेगा। उसने यहाँ तक सोचा था कि अगले वसन्तोत्सवसे वह मुंजको एक महल दे वहाँ कवियोंका दरबार किया करेगा। पर कन्याके इस आचरणने, मुंजके इस व्यापक

आकर्षणने, उसे क्षुब्ध कर दिया, और उसने उसके विनाशका निश्चय कर लिया।

और एक दिन जब मदमाते गजोंके मस्तकसे मद चू रहा था, अपने हथिसारसे तैलपने संहारक दिग्गज चुन लिया, कज्जलकूट पर्वत-सा विशाल गजराज। वातापीके महलोंके विस्तृत प्रांगणमें, प्रजाकी दर्शन-भूमिके आगे, जहाँ बनैले जन्तुओंके युद्ध राजपरिवार देखा करता था, वहीं तैलपके इशारेसे उसके महावतोंने उस गजराजको विच्छृङ्खल कर दिया।

मुंज आँगनके छोरपर चुपचाप अप्रभावित निरावेग खड़ा था। महावतके अंकुशसे बिंधा गजराज आगे बढ़ा। बढ़ता चला गया। उसका सूँड़ वायुसे तरंगित गुंजलक भरता जा रहा था। मुंज निश्चेष्ट निरवलिप्त खड़ा था, विमन, भावहीन।

गजराज सहसा मुंजके सामने ठमक गया। अपनी छोटी आँखोंसे उसे निहारता जैसे गुनने-सा लगा। महावतने उसे अंकुश मारा, उसने मुंजको सूंड़में लपेट, उठा लिया। जैसे अहिपुच्छ वृत्रकी गुंजलकमें कभी इन्द्र बँध गया था, जैसे कालियकी कुंडलीमें कृष्णकी काया कभी कस गई थी, वैसे ही गजराजकी सूंडकी सर्पिल गुंजलकमें भरा मुंज अधरमें लटका था। सहसा गजने मुंजको धरापर उतार दिया और गुंजलक भरता एक ओरको मुंजसे विरत-सा मुड़ गया। मुंज पूर्ववत् खड़ा था, मूक विरक्त।

महावतने क्रोधमें भर राजाके कोपसे संत्रस्त गजको अंकुशकी चोटसे बेदम कर दिया। गजको उसने घुमाकर फिर मुंजके सामने कर दिया! गज चोटसे व्याकुल बढ़ा और बढ़ता चला गया। मुंजकी काया सहसा भूलुण्ठित हो गई। दर्शक जनतासे एक अमानवी चीख निकली। तैलपकी विकृत मुद्रा और भी विकृत हो उठी। तभी उसके पासके आसनसे कन्याकी काया नीचे लुढ़क पड़ी⋯निःशब्दा। रेखा फिर न उठी।

दिद्दा

दहकते अंगारमें शबनमकी शीतल बूंद। लपकते शोलेमें बरफ़की रवानी। सो ही थी दिद्दा, कश्मीरकी रानी।

शालीनताका वैभव और रूपका सौरभ यदि किसीको एकत्र देखना हो तो वह कश्मीरकी घाटीमें ललितादित्य मुक्तापीडकी विजयोंको अपने कृत्योंसे विस्मृत करा देनेवाली दिद्दाका चरित पढ़े। पूरबकी तीन प्रसिद्ध रानियोंमें उसकी गणना है। मिस्रकी शुजरुद्दरने क्रुसेडोंकी लड़ाईमें इंग्लैण्डके सिंह-हृदय रिचर्डको बन्दी कर लिया था, रज़ियाने पहली बार दिल्लीके तख़्तपर नारी होकर अधिकार किया। और यह दिद्दा थी, दोनोंसे शक्ति और मेधामें महत्तर, दोनोंसे प्राय: दो सौ वर्ष पहलेकी। आधी सदी तक उसने दसवीं सदीमें, कश्मीरकी ख़ुशनुमा घाटीपर अधिकारका शासन किया—पुंछसे जम्मू तक, दरदोंके देशसे लद्दाख़ तक—पहले पतिकी स्वामिनीके रूपमें, फिर पुत्रोंकी अभिभाविकाके रूपमें, और अन्तमें स्वयं अपने अधिकारसे। कराकोरमसे पीर पंजाल तककी चोटियोंपर आज भी रानीकी सख़्ती और तेजका साया है, आज भी सिन्धु और झेलमकी ऊर्मियोंमें उसकी भवोंके बल हैं।

शाहिय राजा भीमकी वह धेवती थी, बेटीकी बेटी, पुंछके लोहर-राजकी दुहिता। ब्याही गई वह कश्मीरके राजा क्षेमगुप्तसे, जब डामरों और ब्राह्मणोंके कोलाहलसे घाटी गूँज रही थी, जब उनके रक्तपातसे वितस्ताकी धारा लाल हो उठती थी। पर उसके अधिकार सँभालते ही डामर. बरामुलाकी ढालोंमें उतर गये और ब्राह्मणोंने शस्त्र रख स्रुवा सँभाली।

शाहिय कभी काबुलके राजा थे। हिन्दुकुशकी चोटियोंसे उनके संतरी प्राचीन सप्तसिन्धुके हरे-भरे खेतोंकी रखवाली करते और ईरानके शाहों तथा आमूपारके बलखके तुर्कोंकी गतिविधि देखते। शाहियोंका इतिहास भारतीय संस्कृतिके भेदका इतिहास है। विदेशी किस प्रकार देशके सवर्ण नेता, क्षत्रिय-ब्राह्मण, बनते हैं, यह उस कुलके चरितसे प्रगट है। कभी उनके पूर्वजोंने शकोंके रूपसे दजला-फ़रातकी घाटीपर राज किया था, बाख्त्रीपर भी,सीस्तान और भारतपर भी। राष्ट्रीय जागरणकी लहरमें गुप्तोंने शकोंको देशसे निकाल बाहर किया। शक-मुरुण्ड तब काबुलकी घाटीमें, हिन्दुकुशकी ढालपर बस गये और सदियों भारतके सिंहद्वारकी उन्होंने रक्षा की, देशभरमें कृतघ्न देशी राजाओंकी शत्रुताका बदला उन्होंने देशकी द्वार-भूमिको अपने रक्तसे सींचकर दिया। एक बार वे ब्राह्मण हुए, दूसरी बार क्षत्रिय कहलाये, पर अपने कुलनाम 'शाहिय' में उन्होंने प्राचीन कुषाणोंकी उपाधि 'शाहिशाहानुशाही' जीवित रखी।

अभी भारतके आक्रान्ता गज़नीके महमूदके पिता और अलप्तगिनके गुलाम तुर्क सुबुक्तगिनका पता भी न था, स्वयं अलप्तगिनका भी पता न था जब शाहियोंका साका सिंधु और काबुलकी घाटियोंमें चलता था। चित्राल और यूसुफ़ज़ई, काफ़िरिस्तान और लमग़ान तब उन्हीं शाहियोंकी तलवारके साये थे।

और तभी पुंछकी बेटी, शाहियोंकी नतिनी, दिद्दा एक दिन नाना भीमके काबुली कोटमें पहुँची। कितने ही निदाघ, कितने ही पावस उसने उस कोटमें बिताये थे पर अबकी सर्दियाँ थीं, काबुलकी सर्दियाँ, जहाँकी बरफ़ानी चोटियाँ सुमेरुके देवताओंकी पताका-सी लगतीं, जहाँसे लगता शाहियोंने अपनी कीर्तिकी नसेनी स्वर्गपर टिका दी है।

दिद्दा किशोर और यौवनकी सन्धिपर थी। तन भर चला था। जवानीने पहली छलांग ली थी और भवोंमें कामने अपनी कमान खींच ली थी। मोहराग बोझिल पलकोंके नीचे कोयोंके श्वेत-श्यामकी सन्धिमें जा

बसा था। शाहिय तरुण शौर्यके धनी थे। प्रभातीकी लालीमें जब वे अपने पहाड़ी घोड़ोंपर चढ़, हाथोंमें भाले तौलते, कटिकी तलवार रिकाबमें लटकते पैरके पंजेसे उछालते, पीठपर तरकश बाँधे, कन्धेसे धनुष लटकाये सीस्तानके बियाबांसे, बलखकी हरियाई क्यारियोंसे, पामीरोंकी आड़से, आते शत्रुके रिसालोंपर टूटते तब दिद्दा अपने घोड़ेपर सवार, पेशानीपर बल डाले बागडोर बायें कन्धेमें टिकाये, सीनेपर बाजू बाँधे चुपचाप देखा करती और जब तक मुठभेड़का वारा-न्यारा न हो जाता, दमकी बाढ़से उसके नथने फूलते रहते।

शौर्यके धनी शाहिय तरुणोंकी आन फिर भी उसे अपनी ओर खींच न पाई। उनके दल-के-दल उसके नेत्र-पथमें, उसकी दृष्टिकी परिधिमें बार-बार मँडराये, पर दिद्दाको वे एक आँख न भाये, उसके मनकी थाह न पाये। उनके स्वाभिमानी मस्तक झुके और फिर गये, उनके मन दिद्दाकी मेखलाका वृत्त परस-परस लौट गये, पर वह पुंछकी बेटी न रीझी।

पर एक दिन स्वयं दिद्दाका हृदय अनजाने तीरसे बिंध गया। जाड़ोंके दिन थे, नाना और शाहिय सरदार कोटके गरम कमरोंमें जा बसे थे। सेनाओंने बर्फ़की वर्षासे भाग कर पथरीले स्कन्धावारोंमें पनाह ली, तरुणोंके परिकर खुले। चारों ओर शान्ति थी, नीरव शान्ति, जब हाथ-हाथ भर ऊँची गिरती बर्फ़ भी आवाज़ नहीं करती और जब हवाकी सर्दी भी निर्घोष जम जाती थी। दिद्दाने तभी कोटके बाहर जानेकी ठानी। पाँच सवार उसके दाहिने थे, पाँच बाँयें, पाँच पीछे और दायें-बायेंके सैनिकोंसे कुछ आगे निकले भालेकी नोक-सी, अकेले ही हरावल बनाये स्वयं दिद्दा चली।

सहसा दूर मध्य एशियाके मैदानोंसे बह कर हड्डियोंको हिला देने वाली सर्द हवा चली। दाँत बजने लगे। घोड़ोंकी गति पहाड़ोंपर वैसे ही हल्की होती है अब और भी थम चली। सैनिकोंके कलेवरपर बँधे कम्बल

बर्फ़की सफ़ेदीसे धवल हो गये, उनके मस्तकके कुलह हिमसे मण्डित हुए और सहजवीर हृदय कुछ थमे। दिद्दाकी कटि महीन क़ीमती शालसे बँधी थी, गरम शलवारके ऊपर सुनहरी वास्कट कसी थी और दोनों बाज़ू-कन्धोंसे उतरती ऊनी पटकी छोरें काठीकी दिशामें दब गई थीं। सुनहरे कुलहके नीचेसे अलकें निकल हवामें डोलतीं कानोंपर बिखर जातीं।

आजका दिन शिकारका था, रीछोंके शिकारका। पर दिन भयावना था, हिमकी मारसे पीड़ित सूरज भी जब भयसे कहीं बादलोंमें छुप गया था। रीछके शिकार होते थे गज़नीकी पहाड़ियोंमें, ग़ोरके जंगलोंमें, काबुलकी ऊँचाइयोंपर। पर ऐसे दिनमें नहीं जब इन्सान जो बाहर निकले तो फ़ना हो जाय। पर शिकार तो यह दिद्दाका था, अमरनाथ और गुलमर्गकी ऊँचाइयाँ लाँघने वाली पुंछकी बेटी शाहिय भीमकी धेवती, कश्मीरकी भावी रानीका।

रीछ कन्दराओंमें दुबके पड़े थे। उनकी माँदें स्वयं बर्फ़से मुँद गई थीं। वे बाहर निकलें तो कैसे? और जो निकलें भी तो शिकारीकी ख़ैर नहीं।

बर्फ़की बौछारें रुकीं, जब आँधीका वेग रुका, और सहसा दिद्दाके घोड़ेको एड़ लगी और वह आगे सरका। साथके सैनिक पीछे छूट गये थे, यह दिद्दाने तब जाना जब रीछ पाससे तिरछे होकर निकल गया और कुमारीकी नजर उधर फिरी। दिद्दाने लौटकर भालेका भरपूर हाथ रीछपर मारा, पर, अचानक कावा काट कर, रीछ वार बचा गया, जख़्मी होनेसे बाल-बाल बच गया। अब वह लौटा। घोड़ा भड़का और उसने अलफ़ ली। दिद्दाने तलवार दाहिने हाथमें ले ली थी और बायेंसे वह घोड़ेका अयाल पकड़े हुए उसकी गर्दनसे चिमट गई थी, पर रीछका धक्का जो अलफ लेते हुए घोड़ेपर पड़ा तो वह अपनेको सँभाल न सका, गिरा, और सामनेकी उतारपर लुढ़कता खड्डमें जा पहुँचा।

दिद्दा गिरते घोड़ेसे कूद पड़ी थी पर वह अभी साँस भी न ले पाई

थी कि रीछ उसपर झपटा। तलवार उसके हाथमें थी, पर रीछकी चपेटमें वह अकस्मात् आ गई। उसकी तलवार टन्नसे टूट गई। दिद्दाकी जान पल भरमें लुट जाती, अगर रीछ एकाएक उलट न जाता। दिद्दाने जो नज़र फेरी तो पास जंगली खसको खड़े पाया। खस खड़ा मुसकरा रहा था। उसकी पीठके ऊपर, कन्धोंके सहारे पीछे एक भारी रीछ मुरदा पड़ा हुआ था, जिसके घावोंसे लहू टपक रहा था। थके खसकी तरकश उसी बायीं बाँहसे लटक रही थी जिसके कन्धेमें धनुप फँसा था और दाहिने हाथके भालेके—जो दिद्दाके रीछको बगलमें लगा था—न रहनेसे हाथ अब कटि पर आ गया था।

घायल रीछ भालेके साथ जिस्मको सँभालता लड़खड़ाता उठा, पर दिद्दा उसकी पहुँचके अब बाहर थी, दोनोंके बीचमें खस आ गया था। इन्सान और रीछ जूझ चले। युद्ध मरणान्तक था। एककी मृत्युसे ही दूसरेकी रक्षा सम्भव थी। द्वन्द्व घना हो गया, दिद्दा चुपचाप देखती रही वैसे ही जैसे बादलोंका पट खोल सूरज भी वह युद्ध देख रहा था। दिद्दाने जो खसकी सहायताके लिए कटार निकाली तो खसने हाथ उठाकर उसे आघात करनेसे रोक दिया। फिर रीछको किनारे लगा वह दिद्दाके सामने घुटने टेक बैठा।

× × ×

युग बीत गये। खसको दिद्दा न भूल सकी। भीमकी वह धेवती लोहर पिताके पास पुंछ लौटी। पुंछसे कश्मीरराज क्षेमगुप्तकी प्रिया बन कर, श्रीनगरके रनिवासमें प्रधान महिषी बन कर, उसने प्रवेश किया, उसके पुत्र हुए पर भूल न सकी वह खसको। जब कराकोरमकी चोटियाँ बर्फ़से ढक जातीं, झेलमके तटवर्ती खेतोंमें जब बर्फ़ बिछ जाती, डल-ऊलरकी झीलोंके कमल-वन जब हिमपातसे झुलस जाते, तब कन्धोंपर रीछ लादे स्वयं घायल खस उसकी रीछसे रक्षाके उपक्रम करता दिद्दाके मानस पटल-

पर उतर आता और दिद्दा बेसुध-सी उस तरुण खसके शक्तिसींच तनको अपनी भावदृष्टिमें भरे घंटों निहारा करती। उसे पता तक न था कि खस पुंछकी रियासतका नागरिक था, कश्मीरका, या शाहियोंके राज्यका। उसने केवल हिन्दुकुशकी पोली बर्फ़पर खड़े होकर बरसती बर्फ़के नीचे उसका नाम पूछा था और तरुण खसने उत्तरमें कह दिया था—'तुंग'।

सो वह तुंग था, तुंग खस। पर उसने न जाना कि वह दिद्दा थी, शाहियोंकी नतिनी, लोहरोंकी बेटी और वह मनमें दिद्दाकी मूरत बिठाये चुपचाप जंगलोंको चला गया था, किरातोंके बीच, वह तुंग खस।

एक दिन जब दिद्दा स्वामीके साथ श्रीनगरसे गिलगित जानेवाली राह-पर सेनाका निरीक्षण कर रही थी, अपना गुल्म (सेनाकी टुकड़ी) लिये तुंग खस सामनेसे निकला। आज पहले मिलनके बाद पहली बार उसने दिद्दाको देखा था। पर उसे गुमान भी न था कि दिद्दा उसकी रानी होगी और वह उसका नाम तक जबानपर न ला सकेगा। चुपचाप अभिवादन कर वह सेनाके साथ मैदानसे निकल गया। उसने भी इन सालोंमें किस्मत और लड़ाइयोंके कितने ही मोर्चे देखे थे और अब वह दिद्दाकी सेनाके स्कन्धावारोंमें रहने लगा था।

स्वयं दिद्दाका पुराना घाव तुंगको देखकर उभर आया। निर्वात दीप-शिखा-सी तुंगकी मूरत उसके अन्तरमें बलती रही थी, अब सहसा पवनके सहारे जैसे वह भड़क उठी।

दिद्दाने एक बार सोचा, शक्ति लगाकर उस धागेको तोड़ दे जिसने उसकी उन्नत भावभूमिको अकिंचन और हेयके साथ जकड़ रखा है, पर क्या कभी ऐसे धागेको कोई तोड़ पाया? दिद्दा भी न तोड़ पाई उसे। दरदोंकी पीठपर उसकी सेनाओंकी चोट बनी थी, पंजाबके उत्तरी क़िले उसकी चपेटोंसे त्राहि-त्राहि करते थे, तिब्बतियोंकी अगणित टोलियाँ उसके सामनेसे सिर झुकाये उपायन सौंपती चली जाती थीं, कश्मीरके डामर-ब्राह्मण उसके कोपसे थर-थर काँपते थे, पर तुंग खसका अस्पृश्य आकार

नित्य उसके हृदयाकाशमें उत्तुंग होता जा रहा था। न तोड़ सकी वह अपना बन्धन। तुंगकी मूरत उसके हियेमें जमकर बैठी।

एक रात जब प्रासादके पहरुओंकी आँख बचा दिद्दाकी दासी तुंगको रानीके पास ले गई तब रानीकी चिर संचित कामना पूरी हुई। तुंग उप-पति बना।

दिद्दाके पति क्षेमगुप्तका सहसा निधन हो गया। एकके बाद एक दो बेटे कश्मीरकी गद्दीपर बैठे और रानी उनकी बारी-बारीसे अभिभाविका बनी। शासनमें तुंगका साहचर्य बना रहा। डामर अपनी तलवारें चट्टानों-पर तेज़ करते रहे, ब्राह्मण पुरश्चरणका मंत्रोच्चार करते रहे पर तुंगकी शक्ति सेनापर बनी रही, जैसे उसका राज भी दिद्दाके हृदयपर बना रहा। और दिद्दा, जो स्वयं भी मनस्विनी और निरंकुश थी, तुंगकी अंक-शायिनी बनी रही।

× × ×

फिर युग बीते। पुत्रकी मृत्युके बाद दिद्दा अपने अधिकारसे रानी हुई, कश्मीरके राजसिंहासनपर बैठी। काव्यकारोंने अपनी रचनाओंमें उसके उल्लासका सौरभ उँडेला, रसाचार्योंने उसकी प्रेरणासे अपनी वाणी सरस की। दिद्दाका रस-कोष निरावृत था, रसिकोंके अन्तर उससे आप्लावित थे, चारणोंके कण्ठ सहजसिक्त। परन्तु रानीके उन्मुक्त विलासका धनी तुंग था, सेनापति खस तुंग।

एक रात जब रजनी चन्द्रविहीन थी, अमाका निशीथ साँय-साँय कर रहा था, दिद्दाने अपनी रोगशय्यापर करवट ली। पास ही बैठा तुंग झपट-कर और पास आ गया, शय्यासे लग बैठा।

दिद्दाने आँखें खोलीं, बड़ी, सरस आँखें, जो बुढ़ापेमें भी सरस थीं, मदरागसे रंजित और अब आसन्न मृत्युके भारसे बोझिल।

'तुंग !', रानी बोली।

'देवि', तुंग बोला।

'कहाँ हो, तुंग ?'

"यहीं हूँ, देवि, चरणोंमें ।"

"जा रही हूँ, तुंग! तनकी लीला समाप्त हो रही है। तुंग जियो, तुम्हारी ऊर्जस्वित् शिराएँ कभी शिथिल न हों !"

"देवीके प्रयाणके बाद धरापर तुंगके लिए फिर कुछ शेष न रह जायगा।" आँसू भरी आँखोंसे दिद्दाको देखते हुए घुटने टेके तुंगने भर्राये स्वरमें कहा—"आज्ञा करें, देवि, तुंग चितारोहण करे या जल-समाधि ले ?"

"नहीं, तुंग, देह धारण करो। मनमें विषाद न लाओ। मनकी गतिसे परे कोई धर्म नहीं, शास्त्रका कोई अनुबन्ध नहीं, मनको हल्का करो। देखो मेरे मनको जो फूलसे भी हल्का है, जो निर्विवाद, निःशंक भवकी सीमाओं-को पार कर जायगा।"

और धीरे-धीरे रानीकी आँखें मुँद गई।

मैथिल कोकिल

उत्तर बिहारमें गंगापार दरभंगाका राज है। दिल्लीके सुलतानोंकी कृपासे वह रियासत ब्राह्मणोंको मिली थी। उसीसे लगी ब्राह्मणोंकी बस्तियाँ हैं, मैथिल ब्राह्मणोंकी। मिथिला उनका प्रधान केन्द्र थी और उसीसे उनका मैथिल नाम पड़ा। मिथिलाका जनपद अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतके सांस्कृतिक इतिहासमें प्रसिद्ध रहा है। पहले विदेह राजाओंने फिर विदेहोंके गणने वहाँ अपने यशका विस्तार किया, और पिछले कालमें मैथिल ब्राह्मणोंने उस जनपदमें साहित्य और दर्शनकी भारती मुखरित की। मैथिल दार्शनिकोंकी चर्चा दूर दक्षिण तक हुई और कहते हैं कि यदि वाचस्पति मिश्रने स्वामी शंकराचार्यकी रचनापर अपनी 'भामती' टीका न लिखी होती तो शंकरकी ख्यातिपर खासा परदा पड़ा रहता।

इन्हीं मैथिलोंमें कालान्तरमें एक बालक उत्पन्न हुआ जिसको उसके प्रेमियोंने अभिनव जयदेव, कवि-कोकिल, मैथिल कोकिल आदि नामोंसे पुकारा और जिसकी मधु-भारती इतनी अभिराम सजी कि पासके विविध प्रान्तोंने उसे अपनी-अपनी भाषाका कविगुरु माना। वह बालक विद्यापति था।

विद्यापति था भी वह निस्सन्देह। क्योंकि जहाँ उसके मंडनसे कवि-भारती मंडित हुई वहाँ 'पुरुप-परीक्षा', आदि ग्रन्थोंकी रचनासे उसने ज्ञानके अन्य क्षेत्र भी भरे पुरे। उसके पद तो इतने मधुर हैं कि अनेक प्रान्तोंके कवियोंके आदर्श बन गये हैं और अनेक बार इतनी साधनासे लोगोंने उसका अनुकरण किया है कि विद्यापतिके पदोंको उनसे अलग करना कठिन हो गया है। जयदेवसे प्रायः डेढ़ सौ ही साल बाद होनेवाले इस अभिनव गुरुदेवने गेयतामें, पदलालित्य और कलाकारितामें, प्रान्तीय

भाषाओंमें अपना सानी न रखा। हिन्दीका वह मधुरतम कवि है, मति-रामसे भी मधुर, रससे असाधारण आप्लावित। उसके पद और गीत विविध त्योहारोंपर, विवाहादिके अवसरोंपर पूर्वी उत्तर प्रदेश और समूचे बिहारमें गाये जाते हैं। उसी कवि-कोकिलकी कथा है यह, अभिनव जयदेवकी।

बागमतीके तीर बिसपी गाँवमें उसका घर था। पर जैसे खुली हवाको दिशाएँ नहीं बाँध पातीं, वैसे ही उस बालकको उसके घरकी दीवारें नहीं बाँध पायीं। लूके दिनोंको छोड़कर शेष सारे मौसम अधिकतर वह बागमतीके किनारे बिताता। उसकी लहरोंमें बालकका मन बसा था, उसकी चंचल लहरियोंको देरतक वह निहारा करता और अनेक बार गर्मियोंमें, शरद्की आकर्षक सुषमामें तीर ही तीर चलकर हिमालयकी उस शृंखलाके पास जा पहुँचता, जहाँ बागमतीकी धारा नेपालके पहाड़ोंसे निःशब्द उतर पड़ती है।

बालककी नाद-माधुरी भी प्रायः निःशब्द ही थी। हाँ, उसकी भावभूमि निश्चय तरंगोंसे उद्वेलित होती और सुननेवालोंके निस्पंद प्राण सहसा व्यग्र हो उठते। विद्यापतिके पदोंमें इतनी कोमलता है कि लगता है कि जैसे शब्दायमान होते ही परुष तार टूट जायेंगे। अत्यन्त कोमल स्वरमें वे गाये जाते हैं, ऐसे कोमल कण्ठसे कि तारपर पहुँचते भी नाद विकृत न हो जाय। ऐसे कोमल पद रचनेवाला कवि स्वयं मन और शरीरसे कितना कोमल रहा होगा, इसका अटकल सहज ही लगाया जा सकता है।

एक दिन जब वनप्रान्तर मधुमासके फूलोंसे उमँग रहे थे, नदीका अंचल वन्यकुसुमोंसे चित्रित हो रहा था, आमोंकी मंजरियाँ भौरोंमें उन्माद भर रही थीं, उन्हें खा-खाकर कषायकण्ठ हो कोकिल प्रियाओंको बरबस छेड़ रहे थे, इस बालकविने भी टेरा—

नव वृन्दावन नव नव तरुगन
नव नव विकसित फूल

नवल वसंत नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल ।

बालक अब इतना बालक न था जितना कवि था । उसके मांसल होंठके ऊपर तारुण्यकी रेखा श्यामल हो चली थी । पौरुष, मधुर मदिर पौरुष, अभी अँगड़ाया ही था कि कविने शारदाको लजा देनेवाली वाणी गुनी और पञ्चमके आधार (कोकिल) को लज्जित करता उसने ऋतुराजके नवागमनका अभिनन्दन किया ।

पदके शब्द दिशाओंमें भर चले, वायुकी अँगड़ाती पलकोंपर उनकी अक्षय निधि बन चढ़ चले, उस ओर जहाँ अभिराम मतिमती शिवसिंहकी रानी लखिमा देवी बजरेपर बैठी पतिके आपानकसे ऊब स्वच्छ वायु ले रही थी । वायुके पंखपर चढ़ी जब विद्यापतिकी पंक्तियोंने कानोंका स्पर्श किया तब जैसे मदिरासे विरक्त मन भी इस नव-वारुणीके स्पर्शसे मद चला । तनमें हल्की सिहरन हुई, गात पुलक उठा, रोयें खड़े हो गये । राजाकी ओर रानीने सार्थक देखा ।

"सुना, रानी, सुना ।" राजा बोला ।

"कितना मधुर था वह नाद, राजा !" लखिमा बोली ।

कविने गीत दोहराया । कान जैसे सफल हो गये । अल्हड़ नादकी रागतरंग जैसे रसकी रिमझिम करती सुनने वालोंको सराबोर कर देती । रानीने बजरा उधरको बढ़ानेकी आज्ञा दी जिधर रसका धनी कवि ध्वनिकी लहरियाँ उठा रहा था । बजरा जा पहुँचा निस्पंद, नयनपथकी परिधिमें । दोनोंने दोनोंको देखा, देखते रहे । राजा दोनोंको देखता रहा ।

एक दिन बिसपीमें दरबारके दूत आ पहुँचे, राजा-रानीका संवाद लिये, हाट-नगरकी ब्राह्मणोत्तर सम्पत्ति लिये । कवि दरबारमें गया, अन्तःपुरके महलोंमें जहाँ उसकी नयी कविताओं, नये पदोंके स्वर बहे । अब तक कवि

अपने काव्य-वैभवसे जनपदको निहाल कर चुका था, अब वह अपने स्वामी-स्वामिनीको निहाल करने वहाँ पहुँचा।

महीनों-सालों विद्यापतिकी रसधारा वहाँ बहती रही, राजा-रानीके अन्तरको प्रतिध्वनित करती रही। 'राजा शिवसिंह' और 'लखिमा रानी' के अनवरत स्पर्शसे पद चमक उठते। जानकारोंने कहा कि पद इतने ललित न होते, जो उनको लखिमाके नामका स्पर्श न मिलता। विद्यापतिकी तरल रागिनी निस्संदेह लखिमाके कोमल भावतन्तुओंको छूती थी, निस्संदेह टकराकर लौटी रागिनीसे कविका अन्तर प्रतिध्वनित होता था। धीरे-धीरे यह राग-कला जनपदकी कहानी बन गयी, धीरे ही धीरे राजाके भीतर संदेहका अंकुर जन्मा। और एक दिन छलछन्दसे रहित राजाने जब छलछन्दसे रहित रानीसे पूछा, "प्रिये, मानस क्या स्वाधीन न रहा?" तब रानी बोली—"नहीं स्वजन, लगता है जैसे अन्तर कुछ आकुल है, सर्वतः सर्वस्व दे नहीं पाता। अपराधिनी हूँ, देव।" और राजा उसके उस संयत अपराधको भुला प्रियतर उपचारोंसे प्रियाको भेंटता जिससे उसके कोमल हृदयको स्वजनसे यह दूसरी ठेस न पहुँचे। एक उदार हृदय अनीतिके अपचारका मार्जन माँगता, दूसरा उदार हृदय अपराधको अपराध न माननेका आग्रह करता।

× × ×

दिल्लीका शासन सुल्तान ग़यासुद्दीनके हाथमें था। गाज़ी तुग़लकने ख़िल्जियोंके पतनके बाद हिन्दुस्तानकी हुकूमतकी बागडोर सँभाली थी और मंगोलोंसे देशकी रक्षाके लिए सीमापर क़िलोंकी ज़ंजीर बाँध उत्तर भारतमें विशेष लोकप्रिय हो गया था। पूरबमें बंगालकी सरहद तक उसके बेटे जौनाकी हुकूमत थी जिसने जौनपुर बनाया और जो बादमें मुहम्मद तुग़लकके नामसे विख्यात हुआ। मिथिला भी तब जौनपुरके सूबेमें आई और दिल्लीके बादशाहको कर देना उसके लिए अनिवार्य हो गया। दिल्लीके

सुल्तानोंको वह कर पहलेसे ही देती आई थी और दोनोंके बीच शान्तिका यह कर ही एक मात्र प्रतिबन्ध था।

जनपदमें एक बार जो अकाल फैला तो कर दिल्ली न जा सका और शाही फ़ौजें मिथिलामें उतर आईं। शिवसिंह क़ैद होकर दिल्लीके महलोंमें पड़े।

रानी पतिके अभावमें घुल चली। दिल्ली अनेक दूत भेजे, करकी सम्पत्ति निजी रत्नोंसे पूरी की, परन्तु राजा न लौटा। सुल्तानकी सख़्ती नरम न पड़ी। राजाके बन्धन ढीले न हो पाये।

रानीने विद्यापतिको स्मरण किया। विद्यापति आये। कविका हृदय मित्र राजा शिवसिंहके बन्धनसे स्वाभाविक ही दुखी था। अब जो रानी-का बुलावा आया तो उसने करणीय निश्चित कर लिया। रानीके सामने जब कवि खड़ा हुआ तब स्थितिका उल्लेखकर रानी बोली—"कवि, विधाताने वैर किया, स्वामी बन्धनगत हुए। अब जो कवि कौशल करे तब कहीं वह बन्धन टूटे। दिल्ली जाओ—सुल्तानका कोप बड़ा है पर अनुरागका अंचल भी उससे कुछ छोटा नहीं, और तुम्हारे रागवैभवकी परिधि तो उससे कहीं व्यापक है। जाओ, कुछ आश्चर्य नहीं जो सुल्तान रीझ जाय और लखिमाका राजा अपने महलोंको लौटे।"

शान्त गम्भीर कविकी द्रवित वाणी धीरे-धीरे शब्दायमान हुई—"जाऊँगा, देवि, दिल्ली जाता हूँ। सम्भव है तुम्हारी आशा फले, सुल्तान द्रवित हो जाय। राग-ध्वनिपर तुम्हारा अनुचित विश्वास है, रानी, पर जायेगा, कवि, अकिंचन कवि दिल्ली जायगा।"

"जाओ, कवि, वासवदत्ताके यौगंधरायण बनो, मिथिलाका उदयन लौटे।" रानी आकुल हिया थामे बोली।

कवि नतमस्तक हो लौटा और चुपचाप चला गया। रानी हियेपर हाथ रखे जैसी की तैसी खड़ी रही। कवि उसका अन्तिम संबल था।

पृथ्वीराजके टूटे महलोंसे कुछ ही दूरपर कुतुबमीनारकी छायासे कुछ पश्चिम हटकर तुग़लकके बनवाये नये महल खड़े थे। उन्हीं महलोंमें मिथिलाके राजा शिवसिंह क़ैद थे। दरबार लगा था। सुल्तानसे कवि विद्यापतिके काव्यकी कथा कबकी कही जा चुकी थी और उसने कविको दरबारमें बुला लिया था। किसीने सहसा कह दिया कि मैथिल कवि आँखोंसे परेके अनदेखे सौंदर्यका अपूर्व वर्णन करता है। सुल्तानके मुँहसे सहसा निकल पड़ा—"सद्यःस्नाता सुन्दरीका वर्णन करो!" कविने तत्काल गाया—

> **कामिनि करए सनाने।**
> **हेरितहि हृदय हनए पँचबाने॥**
> **चिकुर गरए जल धारा।**
> **जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा॥**
> **कुच-जुग चारु चकेवा।**
> **निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा॥**
> **ते संका भुज-पासे—**
> **बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे॥**
> **तितल वसन तनु लागू।**
> **मुनिहु क मानस मनमथ जागू॥**
> **भनइ विद्यापति गावे।**
> **गुनमति धनि पुनमत जन पावे॥**

(कामिनी स्नान कर रही है,। देखते ही कामदेव बाणोंसे हृदय बेध देता है। केशोंसे जलकी धारा चू रही है, मानो मुखरूपी चन्द्रमाके डरसे अन्धकार रो रहा है। उसके कुच-युगल सुन्दर चकवे हैं जिन्हें किसी देवताने उसे ला दिया है और इस शंकासे कि पक्षी आकाशमें उड़ न जायँ कामिनीने अपनी भुजाओंसे उन्हें बाँध रखा है। भींगे वस्त्रके शरीरसे सट जानेसे उसके अंगांगोंकी सुन्दरता नग्न हो उठी है जिससे मुनिके मानसमें

भी कामदेव जाग उठे। विद्यापतिकी कामना है कि यह गुणवती रमणी पुण्यवान जनको प्राप्त हो!)

दरबारमें वाह! वाह! की ध्वनि तो निश्चय ही मुखर हुई परन्तु सुल्तानका मन भरा नहीं। उसने विद्यापतिको, कहते हैं, लकड़ीके सन्दूकमें बन्द कर कुएँमें लटका दिया। ऊपर एक सुन्दरी आग फूँकती खड़ी कर दी गई। कविको उसका वर्णन करनेको आदेश मिला। कविने गाया—

> **सजनी निहुरि फुँकु आगि।**
> **तोहर कमल भमर मोर देखल॥**
> **मदन ऊठल जागि।**
> **जो तोहे भामिनि भवन जएबह॥**
> **ऐबह कोनह बेला।**
> **जो ए संकट सौं जी बाँचत॥**
> **होयत लोचन मेला॥**

(सजनी तू झुककर आग फूँक रही है। तुम्हारे कमलरूपी मुखको मुझ भ्रमरने अब देख लिया है और मेरे अन्तरमें मदन जग उठा है। जो तू अपने घर गई तो, हे भामिनि, बता दे किस वेला लौटकर आयगी? और मैं जो इस संकटसे बचा तब कहीं तुझसे आँखें चार होंगी।)

राजा बन्धनमुक्त हो गया। कवि उसे लेकर मिथिला पहुँचा। दर-भंगाके सुखपर कविका ऋण वह न चुका सकी। दिन-दिन रात-रात उसने सोचा, क्या देकर वह अपना वह ऋण मोचन करे जिससे उसका गया हुआ एहवात लौटा। और एक दिन जब कवि दरबारके रसिकोंका मन अपने गायनसे रससिक्त कर रहा था तब रानीको उसके प्रति विशेष अभिरुचि हुई। उसका आकर्षण जागा और बड़ी जुगतसे दबाया मन सहसा सात्त्विक स्वेदसे पिघल चला। दरबारके बाद फूलोंसे लदी वासन्तीके नीचे सहसा रानी कविसे पूछ बैठी—"कवि, उपकृत अन्तर ऋण बोझिल हैं।'

क्या करूँ कवि, कि वह ऋण कटे ? फिर भी क्या तुम्हारे कियेका मोल चुका सकूँगी ?''

कविने शान्त मुद्रामें माँगी—मात्र एक संध्या, कौमुदी वितरित गगन-वितानके नीचे राजाके साथ नये पदका श्रवण । बस, इसके अतिरिक्त कवि-की कोई कामना नहीं, इससे परे उसकी कोई साध नहीं ।

और एक रात जब संध्या पूनोकी चन्द्रिकासे दहक उठी थी, वायु माधवीके कुसुम परागसे मन्द महक रही थी, तभी वासन्ती कुञ्जके आगे कदली बाढ़ोंके बीच कवि अपनी वीणा लिये बैठा । सामने राजा और रानी बैठे । कविकी कटि मिरजईके निम्न भागसे दबी रेशमी उत्तरीयसे बँधी थी, मुक्ताहार सामने हिल रहा था, कानोंके कुण्डल सचल थे, कन्धों तक कटे कुन्तल कुञ्चित हो बयारके हल्के स्पर्शसे हलके हिल रहे थे । कविने भाव-गद्गद हो मानव कण्ठमें विद्याधरकी ध्वनि भर गाया—

जनम अवधि हम रूप नेहारल
नयन न तिरपित भेल—

हियेका जुग-जुगका संजोया तरल ताप रागके संयोगसे अकल्पित बढ़ चला । और बह चली साथ ही लोचनोंसे आँसुओंकी धारा । और उस कविकी कहानीसे रानीकी कहानी भी जा मिली । उसके नयनोंसे भी नीर बह चला था । उसी प्रकार दोनोंके भावके धनी राजाके नेत्र भी भींग चले थे । कवि और रानीका भेद जनपदके रसिकोंका उल्लास बना ।

कनवाहेका मोर्चा

कनवाहेका मोर्चा । तुर्क और राजपूत । बाबर और साँगा ।

बाबर—ज़ालिम तैमूर और ख़ूंख़्वार चंगेजकी औलाद । लासानी लड़ाका, कलमका बादशाह, सख़ी क़लन्दर । बर्फ़-सा रंग, ऊँचा क़द, फ़ौलादी जिस्म । काँखमें दो-दो जवान दबाये क़िलेके कोटोंपर दौड़ जाये, राहकी नदियाँ तैर कर पार कर ले । रानके नीचे घोड़ा कुचल दे । नित्य अस्सी मील लाँघ जाय । बलख़-बदख़्शाँकी केसर-उमगती जमीनपर ज़माने तक लगी आँखें; सीर-आमूकी तलहटीके ख़ुशनुमा बाग़ों, फ़रग़ाना समरकन्द-के तख़्तके लिए ग्यारहकी कच्ची उम्रसे पाँच-पाँच ख़ूनी चोटें । फिर काबुल और हिन्दुस्तान ।

साँगा—गुहिलकुम्भाकी सन्तान । दिलेरीकी आख़िरी टेक, साहसकी शपथ । तपाये ताँबेका रंग, वज्र-सी कठोर छाती, साँचेमें ढला ऊँचा जिस्म । बदनपर अस्सी घाव गिनता था, एक भुजा नहीं, एक आँख नहीं । लड़ाईकी ज़िन्दगी, घोड़ेकी पीठपर आरामकी नींद । क़ौलका लामिसाल पक्का । धावे गढ़ मांडूसे बहावलपुर तक, कालपीसे काठियावाड़ तक । चोट जो की तो दिल्लीका तख़्त हिल गया, इब्राहिमको दो-दो बार पकड़कर छोड़ दिया । मेवाड़ और दिल्लीकी हद जमुनाकी धारामें खींची ।

बाँकेसे बाँकेका मोर्चा था । फ़ौलादने फ़ौलादपर चोट की । भीर, लाहौर, पानीपत, दिल्ली और अब आगरेकी राहमें बाबर । साँगा अजमेर, जैपुर लाँघता उसकी ताकमें । बाबरने सीकरीके पास अपना डेरा डाला, राणा बियानेकी ओर बढ़ा । बाबरके इशारेसे बाँका ख़ुरासानी अमीर

राजपूती सेनाके पीछे पड़ा। राणाने जो फिरकर चोट की तो ख़ुरासानी सीकरीके पड़ावपर ही जाकर गिरा। तुर्की फ़ौजपर मातम छा गया।

राजपूती आनकी कहानी बाबरने सुनी थी, बाबरकी फ़ौजोंने सुनी थी। पानीपतके मोर्चेसे विजयी हो जब मुग़ल दिल्लीकी ओर बढ़ा तभी भेदियोंने कहा था, आगेका मोर्चा विकट है, साँगाका मोर्चा है, उन कबीलाई राजपूतोंका जंग जिनका गिज़ा, मौत जिनका सिरपेंच है। तुर्की फ़ौज सहम गई थी। अब जो ख़ुरासानीने मीलों भाग सीकरीमें ही पनाह ली तब तो काटो तो लहू नहीं।

जगह-जगह मुग़लिया फ़ौजी पड़ावमें रम्माल रमल फेंकने लगे, लड़ाई-का अंजाम गुनने लगे। सितारे उलटे पड़े, क़िस्मत बेरौनक। घबड़ाई फ़ौजोंने हथियार डाल दिये।

बाबरने देखा, मैदान बग़ैर लड़े हाथसे निकला जाता है। पुरखा चंगेज़ जलालुद्दीनको खदेड़ता सिन्ध तक अनायास चला आया था। पुरखा तैमूर उत्तरी हिन्दुस्तान लहूलुहान कर गया था। कैसे उन्हींकी औलाद जंगपरस्त बाबर बग़ैर लड़े लौट जाये? ना, वह नहीं लौटेगा। उसकी रूमी तोपें, फिरंगी तोपें, मार करेंगी; आख़िर नेज़ोंकी उनके सामने क्या औक़ात! फिर आख़िरी वक़्तपर भला उसके 'तुलुगमे'को आज तक कौन रोक सका है? काफ़िर क्या रोक सकेंगे?

पर चेहरा बेरौनक था। अपने ही लड़े मोर्चे बच्चोंके खेल-से लगने लगे। उजबकोंके हमले उसके जाने थे, मंगोलोंके तुलुगमे उसके जाने थे, अफ़ग़ानोंके जुझाऊ धावे भी, अपने तुर्कोंके जमे मोर्चे भी, पर यह तो क़ौम ही दिगर थी, इसका तो रवैया ही दूसरा था। घोड़ेकी पीठ इसका डेरा था, तलवार इसकी दौलत थी, मौतकी खोज इसकी आख़िरी मंज़िल। बाबरने मीना और जाम फेंक दिये, सोने और सुनहरे काँचकी शराब-भरी सुराहियाँ टूक-टूक कर दीं। घुटने टेक दिये—"या ख़ुदा, अबकी सम्हाल, फिर शराब नापाकके हाथ नहीं लगाऊँगा।"

जेहादके नारे बुलन्द हुए। इस्लामकी जीतोंकी सौगन्ध खाई जाने लगी, शहीदोंकी क़ुर्बानियोंकी, गाज़ियोंके हौसलोंकी। फ़ौजके सीनेमें नई जान आ गई—"जस, चाहे मौतका पंजा जकड़ जाए; जस, चाहे ज़िन्दगी-का धागा टूट जाये!" सिपाहियोंकी रग़ोंमें नया ख़ून दौड़ चला। बाबरने क़ुरान उठा लिया—"उठाओ क़ुरान शरीफ़, क़सम खाओ—नबीका झंडा झुकने न देंगे, इस्लामकी सफ़ेद चादरपर हारका स्याह धब्बा न लगने पायेगा।" फ़ौज़ने क़ुरान पाक छूकर क़समें खाईं, जाती हुई हिम्मत लौटी, बाबरकी जानमें जान आई।

राणा अपने राजपूतोंको लिये मंज़िलपर-मंज़िल मारता उड़ा आ रहा था। मारवाड़, अम्बर, ग्वालियर, अजमेर, चन्देरीके रिसाले उसके दायें-बायें थे, पास-पीछे। बाबरने सीकरीमें ही मोर्चाबन्दी की, व्यूह रचा। नौरोज़ था, १२ मार्चकी तारीख़ थी। दाहिना बाज़ू चुने लड़ाकोंसे भरा, बायाँ सदाके विजयी जवाँमर्दोंसे, हरावल उनसे जिन्होंने कभी दुश्मनको पीठ न दिखाई। सामने गाड़ियाँ थीं, पाँच-पाँच क़दमपर लासानी मार करने वाली रूमी और फिरंगी तोपें, पहियोंपर रखी विशाल तिपाइयाँ। रिसालोंके धावे रोकनेके लिए तोपें चमड़ेके रस्सोंसे जकड़ दी गईं। तोपोंका यह तरीक़ा मध्य एशियामें भी नायाब था। यह रूमी (उस्मान्ली) तरीक़े की नकल थी। फ़ारसकी लड़ाईमें उस्मान्लियोंने इस मोर्चेका इस्तेमाल किया था। यह बोहेमियाके तोपचियोंकी सूझ थी, जिन्होंने पहले-पहल इसका इस्तेमाल जर्मन रिसालोंकी बाढ़ रोकनेके लिए किया था।

सारा मोर्चा बाँध बाबर घोड़ेपर सवार दाहिने बाज़ूसे बायें बाज़ूतक दौड़ गया। आख़िरी बार सिपाहियोंको क़समें खिला, उनके दिलमें जोश भर लौटा, फिर सिपहसालारोंको लड़ाईके कौल-तरीक़े समझा आगे बढ़ा। फ़ौज उसी मोर्चेसे दो मील आगे सरकी। उस्ताद अली कुलीके बन्दूक़ची तोपों और पैदलोंके बीच चले, जिसमें उनके बीच सम्बन्ध टूट न जाए।

१५२७ की मार्चकी सोलहवीं तारीख़ थी जब कनवाहेके मैदानमें दोनों

सेनाओंका सामना हुआ। राणाने दम न लिया, न दम लेने दिया। मंज़िलपर मंज़िल मारता आया था, तोपोंके मुँहमें दौड़ पड़ा। बारूद चीनने ईजाद की थी, पर उसका इस्तेमाल उसने महज़ आतिशबाज़ीमें किया। बन्दूक़ और तोपके ज़रिये उसका उपयोग पश्चिमने किया, यूरोपने, यूरोपीय तुर्कों-रूमियोंने, फिर हिन्दुस्तानमें बाबरने।

हिन्दुस्तानने ऐसी लड़ाई नहीं लड़ी थी, देखी न थी, सुनी न थी। इब्राहिम लोदीकी एक लाख सेना पानीपतके मैदानमें इसी नई लड़ाईका शिकार हो गई थी। हाथी फूटते गोलोंके सामने, टूटते शोलोंके सामने छिनभर न टिक सके थे, अपनोंको ही रौंदते भाग चले थे। राणाने तोपों-बन्दूक़ोंकी बात सुनी थी, उसके दिलेर राजपूतोंने उनकी बात सुनी थी। सुनकर हँस दिया था। लड़ाईके मामलेमें उन्हें किसीसे कुछ सीखना न था। उनके भाले हाथमें हों, तलवारें म्यानमें, घोड़ेकी पीठ हो, कण्ठ शराबसे तर हो, आँखोंके डोरे चंडीके उस तरल प्रसादसे लाल हों, असवारके भी, घोड़ेके भी, फिर आ जाय सामने चाहे जम!

साँगा आया और बढ़ता चला आया। राजपूतोंकी लहर उठी, लहर-पर लहर लहराती तोपों तक चली जाती, फिर उठती और बिखर जाती। सवार घोड़ेपर, घोड़ा असवारपर। फिर भी माताकी छातीपर बेटोंके मुण्ड गिरने लगते, अंग-अंग बिखर पड़ते, पर कहीं उफकी आवाज़ न होती, कहीं घायल पानी न माँगता, कराहता नहीं।

पर आग उगलती तोपें भी राजपूती धावेको न रोक सकीं। मुस्तफ़ाने जौनसारी फ़ौजोंपर रिसालोंके धावे देखे थे, फ़रग़ानाके मैदानोंमें उसने अपनी रूमी तोपोंसे उजबकोंके हौसले पस्त कर दिये थे, पर आज यह किनसे पाला था जिनपर गोलोंका कोई असर नहीं, बारूदका कोई बस नहीं? घंटों लड़ाई चलती रही। तोपोंके चक्के टूट गये, उनके चमड़ेके रस्से टूट गये, तुर्की फ़ौजोंका मोर्चा टूट गया, राजपूती बाढ़ न रुकी।

पर लड़ाई अब तोपोंकी न थी। दुश्मन उनके मुँह अपने सीनेसे बन्द कर चला था। ऐसी लड़ाई इतिहासने न जानी थी। अब लड़ाई तलवारों-की थी। बाबर सारी राजपूती सेनाके मैदानमें आ जानेकी राह देख रहा था। आधीसे कहीं अधिक शत्रु-सेना उसकी तोपोंकी आगमें स्वाहा हो चुकी थी। जो बची थी वह भयंकर मार कर रही थी। तोपें बिखर गई थीं, उनके मुँह फिर गये थे, बन्दूक़ची बेकार हो चले थे, उनके पास फ़ायर करनेकी दूरी न थी।

अब बाबरने अपना हुनर दिखाया। 'रिज़र्व' को इशारा किया। चारों ओरसे हज़ारों घुड़सवार एकाएक उठे और बढ़ते तूफ़ानकी तरह मैदानपर छा गये। बाज़ूके रिसालोंने सहसा राजपूतोंपर पहियेकी तरह घूमकर पीछेसे हमला किया। यही मंगोली 'तुलुगमा' था, ऐन वक़्तपर बाबरने उसका इस्तेमाल किया था। राजपूती कतारें बिखर गईं। जब तक तोप-चियों और बन्दूक़चियोंका सामना था उसकी रास न रुकी, पर अब उन्हें लौटकर पीछे लड़ना था। और घुड़सवार हमलावर सेनाके लिए फिर जानेपर लौटकर लड़ना सम्भव नहीं होता। राजपूत घिर गये थे और अब जो चारों ओरसे उनपर मार पड़ी और वे लौटे तो मुस्तफ़ा और उस्ताद अलीने अपनी तोपें फिरसे सम्हालीं। उनके मुँह दुश्मनको ओर फिरा दिये और विकटकी मार शुरू की।

अब राजपूतोंने अपना ख़तरा देखा। उनका व्यूह कबका टूट चुका था। पर उनकी मार अब देखने ही लायक़ थी। बँधी व्यूहकी लड़ाई, कतारकी लड़ाई, जुमला लड़ाई होती है सामूहिक। उसमें सबपर समान चोट पड़ती हैं, सब शत्रुपर समान रूपसे चोट करते हैं। पर टूटे मोर्चेकी लड़ाई इकाइयोंकी लड़ाई होती है जिसमें अकेली वीरताके सबूत मिलते हैं। यह समय उसी अकेली दिलेरीका था। न कोई पनाह माँगता था न कोई पनाह देता था। जहाँ-तहाँ जोड़े लड़ रहे थे, अधिकतर लड़ाके बीचके

मैदानमें राजपूत ही थे, जो चारों ओरके नये रिसालोंके निशाने तो थे ही, तोपोंकी नई मारके भी लक्ष्य थे।

राजपूत झूम रहे थे। राणाने विकटकी मार की थी। उसके बचे सरदार उसके आगे पीछे भयंकर मार कर रहे थे। अधिकतर तो खेत रहे थे। 'हर हर महादेव! जय एकलिंग!' की गगन-भेदी ध्वनि अब मद्धिम पड़ने लगी थी। जब राणाको बचानेकी कोई राह न मिली तब सवारोंने अन्तिम प्रयत्न किया। राणा चोटों और थकानसे चूर-चूर हो रहा था। उसकी संज्ञा लुप्त हो चली थी। तभी किसीने उसे अपने घोड़ेपर सम्हाला। फिर तो इन्सानी दिलेरीकी कुछ ऐसी कीरत कनवाहाकी उस ज़मीनपर लिखी गई, जिसका मिसाल दुनियाके इतिहासमें नहीं है।

राजपूतोंने तोपोंकी ओर रुख किया। उधरसे हमला केवल तोपोंका था। अपनी अगली बाढ़ें बलिदान करते राजपूत उन्हें लाँघ चले। बाबरने फिर तुलुगमेका हुक्म दिया। ख़्वारिज़्मी रिसाले घूमकर उधर बढ़े भी, पर साफ़ उनकी कतारें चीरते राजपूत राणाकी संज्ञाहीन देह लिये उनके बीचसे निकल गये।

अस्मतका ख़ून

पहाड़ी इलाक़ा। घने जंगल। जंगलोंकी गहराईमें मांडूके विमल प्रासाद। मालवाके सुल्तानोंका अजेय गढ़। जमीन, जो सदासे सोना उग-लती रही है, जिसने उपजकी इतनी इफ़रात दी है कि भोजके साहित्यिक सपने सच हो सकें, कि उसके दानोंकी परम्परा अटूट बनी रहे, कि ज्ञानकी लौ जलती रहे। उसी ज़मीनकी मिल्कियत कभी अफ़गानोंके हाथ आई।

अफ़गान हिन्दुकुशके सायेमें सदासे अपनी आज़ादीकी रक्षामें सजग रहे हैं। जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ-वहाँ उन्होंने अपनी आज़ादीकी बेल रोपकर उसे अपने जिगरके ख़ूनसे सींचा। मालवा जब उनके हाथ आया, उसकी क़ीमत उन्होंने समझी, उसकी ज़मीनकी क़ीमतसे भी बढ़कर अपनी आज़ादीकी। उज्जैन पुराने काफ़िलोंकी राहपर पड़ता था, राजमार्गपर, वहाँ पहुँचनेमें आसानी थी। राजनीतिक छीना-झपटी उसके लिए उसकी ज़मीनपर सदासे होती आई थी। ख़तरेसे बचनेके लिए अफ़गान अपनी राजधानी वहाँसे उठाकर पहाड़ों-जंगलोंके बीच गढ़मांडू ले गये।

उसी मांडूका सुल्तान बाज़बहादुर हुआ। बाज़बहादुर राजा भोजकी परम्परामें था। भोजकी धराका स्वामी तो वह था ही, उसकी मानसिक सम्पत्ति भी उसने पाई थी। तलवार वह मज़बूत मुट्ठीमें पकड़ता। मालवाकी आज़ादी उसके सारे अरमानोंके ऊपर थी। अधिकतर समय उसका लड़ाईके मैदानोंमें बीतता।

पर ललित कलाओंमें उसकी विशेष अनुरक्ति थी, उनका वह अनुपम पारखी था, असामान्य कलावन्त। मांडूके महलोंमें प्रहृत मुरजकी धीर-गम्भीर ध्वनि उज्जयिनीकी परम्परा बनाये रखती और मांडूका यह अभि-जात उदयन नगरके विलासियोंका प्रतीक बनता, विलासिनियोंका साध्य।

सितार और सारंगी उसकी उंगुलियोंसे सार्थक होते, संगीतकी तरंग उसके सुललित कण्ठसे लहरा उठती; और संगीतकी वाणीका वह स्वयं सर्जक था, हिन्दीका वह अभिमानी कवि रूपमती-सा ही अनुराग-मदिर, भाव-धनी।

रूपमती स्वरोंकी साधिका थी, स्वर-गर्विता, रूप-गर्विता, वीर नर्तकी, अनुपम गणिका। कुमारदास और कालिदासकी वारवनिताकी बात हमने सुनी है, उस परम्पराका बोध जन-कथाओंमें सुरक्षित है, पर जो कोई उनकी सचाईमें सन्देह करे वह रूपमतीके अभिराम लावण्यको देखे, उसकी लासानी कलाचातुरीको, गायन-नर्तनके प्रति कभी बासी न होने वाले उल्लासको, और उसे मेघदूतके महाकालकी नर्तकियोंकी साधना, भोजकी ललित सम्पदामें पली गणिकाओं और क्षेमेन्द्र-दामोदर गुप्तकी वारवनिताओं-का रूप-विलास, कण्ठ-विलास सब इस रूपमतीमें ही एकत्र मिल जायगा। उसका रूप, भाव-सौरभसे संयुक्त उसकी अनुपम काया, अनुरागके दर्पसे उन्नत उसका कोमल चिबुक काव्यकी रेखाओंमें सदा उसकी स्मृति बनाये रखेंगे।

रूपमतीकी वाणी भी बाज़बहादुरकी भाँति ही अपनी थी। गेय पदोंको दुहराना गणिका-जीवनमें उसे अमान्य न था, पर अपने ही बनाये पदोंको जब वह तन्त्रीकी सहायतासे स्वर देती तब उसमें अधिकारकी गूँज होती, कोमल कल्पनाका भावसौरभ तब सुकम्पित वाणीको अभिमत निनाद देता चराचर मोह जाता।

एक दिन बाज़बहादुर भी मोह गया। वसन्तका आगम था। आमोंपर कोमल मंजरियाँ डोलीं। उनके रससे कषाय कण्ठ कोकिलने मत्त हो मदिर प्रेयसीको चूम लिया। उपत्यकाके फूले अंचलमें पहली बार बाज़बहादुरने गन्धबसी मदिरा ढाली। तभी दूरका अप्सरा-विनिन्दक स्वर सुन पड़ा। स्वरलहरी ऊँची उठी, और ऊँची, पर स्पष्ट लहरीमात्र, शब्द-विरहित ध्वनिमात्र। बाज़ कुछ काल सुनता रहा वह स्वरका आरोहावरोह। रह-

रह कर स्वरित तरल कारुण्य उसे हज़ार हाथों खींचने लगा। बाज़ स्वर-प्रेरक दिशाकी ओर चला।

उसने देखा स्वर-लहरी तरंगित करने वाली उद्देश्यहीन अभिसारिका स्वयं रूपमती है। फूलोंका सेज झरनेके किनारे पड़ा है। गावतकियेके सहारे अधलेटी रूप पड़ी है। रागकी ध्वनि, जो अभी हाल गिरि-कुन्जोंको अपनी करुण प्रतिध्वनिसे भर रही थी, अब मन्द पड़ गई है। दासियाँ चुप सुन रही हैं। मोरपंख हल्के-हल्के झला जा रहा है। इसे उसकी कुछ आवश्यकता नहीं, क्योंकि यद्यपि शिशिर बीत चुका है, हवामें कुछ नमी बाक़ी है।

बाज़को एकने देखा, पहचाना, पर रूपकी परिचारिका होनेसे कुछ बोली नहीं। बाज़ खड़ा चुपचाप सुनता रहा। जब करुण रागकी प्रतिध्वनि रुकी तब बाँदीने रूपका ध्यान बाज़की ओर आकर्षित किया।

रूप उठी। बायें हाथसे ओढ़नी सँभालती दाहिनेसे सलाम करती वह झुकी। बाज़ पास बढ़ आया था, स्वागतके लिए झुकी गणिका तक।

"कनीज़के बड़े भाग! स्वागत सुल्तान आज़म! वसन्त मुबारक!" रूप बोली।

"वसन्त मुबारक, रूपमती! पर आज बहारके इस भरे मौसममें, फूलों लदे काननके बीच यह करुणराग क्यों?" बाज़ने मुसकराते हुए पूछा।

"यह भी क्या बताना होगा, आला हज़रत?" आवाज़में दर्द था, आँखोंमें बेबसी थी।

"मालवाका फूल-फूल तुम्हारी महकसे गमक रहा है, रूपमती। मेरा भी अन्तर तुम्हारे सुरसे भरा है। क्या मांडूके महल तुम्हारी आवाज़से वंचित रहेंगे? बाज़का कोना-कोना तरस रहा है, रूप। आबाद करो मेरे सूनेको।" बाँका तरुण अपना सरबस जैसे हथेली—अंजलीमें धरे खड़ा था; बदलेमें मात्र अनुराग माँग रहा था।

दोनों दोनोंको जानते थे। दोनोंके मानसमें एक दूसरेकी एकान्त कामना थी। रूपमती बाज़बहादुरके हरममें जा बसी। हरमका अनन्त वृत्त संकुचित होकर रूपमती और बाज़बहादुर तक ही रह गया।

रूप और बाज़ दोनों गायक थे, दोनों कवि। उनके विरचित पदोंमें भाव रूप धारण करता, शब्दरूप, जिसे तन्त्री निनादितकर चराचरको मुग्ध कर देती। गणिकाके पद-विन्यास अब मांडूके महलोंको झंकृत करते। पर गणिका अब गणिका न थी, सतीकी निष्ठाका मूर्तिमान रूप थी। बाज़का विलास अब परिधि पा गया था। उसका सहज व्यभिचारी मन सर्वत्रसे खिचकर रूपपर एकाग्र हो गया था।

अनेक बार महलका कोलाहल उन्हें उद्विग्न कर देता। अनेक बार वे चाहते कि उनके कानोंमें सिवा उन दोनोंके स्वरोंके तीसरा स्वर न गूँजे। वे चुपचाप परिचर रहित घोड़ोंपर सवार वनोंमें निकल जाते। घोड़ोंपर चढ़े सालस मुद्रामें जब उनकी वाणी निसर्गकी कोखसे उठती तब जैसे उसका रोम रोम खिल उठता। चितेरोंकी तूलिका चित्रपटपर दौड़ पड़ती।

अहेरको निकले हुए जब दोनों वनोंके अंचलको पारकर मैदानमें आ खड़े होते और सभीता हरिणी बेबस हो अपनी आँखें फैला धनुषपर बान चढ़ाये बाज़बहादुरकी ओर देखती, तब बाज़ उन आँखोंसे अपनी आँखें फेर रूपकी आँखोंमें डाल देता। दोनोंको अपनी आँखोंसे जैसे नापता अमिमीत लोचन। रूपकी आँखें अनुनय-सी करती कहतीं—"नहीं"। और बाज़ धनुष-पर चढ़ा तीर उतार लेता।

जिस-जिसने रूप और बाज़के प्रेमको जाना उस-उसने अपने प्रणयको उसकी मर्यादासे बाँधा। उनका प्रणय कवियोंकी टेर बन गया, प्रणयियोंके प्रणयकी सौगन्ध। शासन तक उस प्रणयकी मृदुता पहुँची। नीतिकी प्रख-रता मानवीयताके स्पर्शसे मृदु बन गई।

पर एक दिन कमलपर पाला पड़ा। रूपमतीकी ख्याति मालवाकी सीमाओंको कबकी लाँघ गई थी। उसका बाज़बहादुरके प्रति प्रणय भी

उसी प्रकार दूर-दूरके दरबारोंकी चर्चा बन गया था। गुजरात और काठियावाड़, मेवाड़ और मारवाड़, आगरा और दिल्ली, काबुल और फ़ारस तक इस जोड़ेकी कहानी कही और सुनी जाती।

अकबरने भी सुनी पर उसका संयत मन इससे मथा नहीं, प्रसन्न-तुष्ट हुआ। पर उसीके सरदार आदमके मनमें रूपकी छाया घनी होती गई। उसे पा लेनेको उसका मन छटपटा उठा। रूप और बाज़के प्रणय-चन्द्रपर आदमका राहु झपटा।

आदम ख़ाँ अकबरकी धाय माहम अनगाका बेटा था। मातृरूपिणी माहम अनगाके लिए तरुण अकबरको कुछ भी अदेय न था। उसीके कहनेसे उसने अपने पिता-पितामहके सेवक मित्र खानखाना बैरमख़ाँको बरबाद कर दिया था, अब उसीके कहनेसे उसके बेटे आदमको अकबरने मालवा लेने भेजा। आदमने मालवेपर चढ़ाई की। लड़ाई दिन-रात होती रही। बाज़-बहादुर केवल कवि न था, केवल तन्त्री ही स्वरित करना न जानता था। उसकी मुट्ठीमें तलवार पकड़नेकी गज़बकी ताक़त थी और आत्मसमर्पण करना उसने कभी न सीखा था।

शत्रुकी सेनाएँ दिनमें क़िलेका परकोटा तोड़ देतीं, रातोंरात बाज़ उसे दुरुस्त करा लेता। रूप बराबर घोड़ेपर चढ़ी उसकी बग़लमें बनी रहती। गढ़की सेना उनको देख उत्साहसे भर जाती, लड़ाईकी मार दुगुनी हो जाती। पर यह कब तक सम्भव था कि मालवा मुग़ल साम्राज्यकी चोटें चिरकाल तक सह सकता, जब रणथम्भौर और बीकानेर, अम्बर और मारवाड़के राजपूत उसके धीरजको कमज़ोर किये जा रहे थे। मालवाके सुनहरे खेतोंको आदमके बर्बर सिपाही बरबाद किये जा रहे थे, उसके धनी गाँवोंको उजाड़े जा रहे थे।

रूपमती पतिसे उलझ गई। "बाज़, तुम जाओ", वह पतिसे बोली। "अन्यत्र शरण लो। बच रहोगे तो मालवापर फिर अधिकार कर लोगे वरना आज तुम न रहे तो मेरा सुहाग तो अलग, इस मालवाका सत्यानाश

हो जायेगा। तुम जाओ, राणाके पास। एक मात्र राणाका चित्तौड़ अपना सिरपेंच उठाये हुए है। वही तुम्हें शरण दे सकेगा। वही आज आज़ादीके दीवानोंका आसरा है।''

रूप यही नित्य कहती और बाज़बहादुर नित्य पूछता—''और तुम ?'' और रूप कह देती—''मैं प्रजा हूँ, बाज़। मेरा घर मालवामें है, मेरा स्थान मालवाकी प्रजाके साथ है; गढ़ मांडूके लड़ाकोंके साथ, और तुम्हारी अनुपस्थितिमें मेरी ज़िम्मेदारी रक्षाकी है। तुम जाओ, राजा, मालवाकी रक्षा करो।''

और बाज़ चुप रह जाता। उसका मस्तक बेबसीसे झुक जाता।

पर आज रूप चुप रह जानेवाली न थी। उसने बाजबहादुरको दुर्गमें न रहने दिया। सुरंगसे दूर तक छोड़ आई। और बाज़बहादुर नतमस्तक, सब कुछ हारा-सा मेवाड़की सीमाके वनोंमें ओझल हो गया। रूपमती पतिके अभावमें मांडूकी रक्षा करने लगी। उसके पास विरहके आँसू न थे, शत्रुको भून डालनेवाली आग थी। उसने दुश्मनके छक्के छुड़ा दिये।

पर मांडूकी सेनाओंका लड़ते रहना कब तक सम्भव था ? दुर्गकी रसद कम होने लगी। भूखकी तपिशने वह किया जो चोटके दर्दने न किया था। सरदारोंने गढ़ आदमको सौंप दिया। मालवा मुग़ल सल्तनतका अंग बन गया।

पर आलम मालवाके लिए नहीं आया था, न मांडूके लिए। उसके दिलमें रूपमतीके लिए दरार पड़ गई थी। उसने आत्मसमर्पण करनेवाले सरदारोंसे उसे माँगा। सारा हरम उसके सुपुर्द कर दिया गया। बाज़-बहादुरकी बेगमें, रखैलें, बाँदियाँ उसमें सभी थीं। चोट खाई हुई नागिन-सी रूपमती भी।

पर चोट खाई हुई नागिन-सी। और अब-जब आदमने उसे आगरेकी

रौनक, उसके ऐशकी बात कही, जब-जब उसकी दूतियोंने रूपको फोड़ना चाहा तब-तब उसने उसे 'कुत्ता' कहकर पुकारा।

अन्तमें जब एक दिन आदमने सारा शहर जला डालनेकी धमकी दी, तब प्रजाके सर्वनाशसे शंकित हो रूपमतीने आत्मसमर्पण करनेके लिए आदम ख़ाँको अपने महलोंमें बुला भेजा।

शरत्की पूनो थी। आकाश निरभ्र था, निसर्ग हँसता था। रूपने मण्डन किया। अभिराम अलंकारोंसे वह सजी। जैसे बाज़बहादुरके साथके दिन लौट आये हों। उसका सजना देख बाँदियाँ चकित थीं। फिर सोचा ऐसा होना कुछ अजब नहीं। हरमोंका एक हाथसे दूसरे हाथमें निकल जाना सामान्य बात रही है। और रूखे बालोंको स्निग्ध कर जब रानीने उनमें मोती गूँथे, फूलोंसे उन्हें सजाया तो वे प्रसन्न ही हुईं। सुन्दरसे सुन्दर क़ीमतीसे क़ीमती लेबास पहनकर रूपने उसपर मादक तरल द्रव्य छिड़का। कमरा गमक उठा। वह बिस्तरपर जा सोई। सोनेका पलंग कबसे उसके इन्तज़ार-में था।

इन्तज़ारमें आदम भी तड़प रहा था। घड़ियाल बजते ही, बताये समयके आते ही वह रूपके महलोंमें घुसा। पहरेकी दासीने कमरा बता दिया। कमरेकी दासीने पलँग बता दिया। आदम पलँगकी ओर हँसता हुआ बढ़ा। पर जो आहट न मिली तो झल्लाया। फिर जो चादर उठाई तो रूपके हिम-धवल मुँहपर ज़हरकी नीलिमा देखी। रूप बाज़की यादमें सदाके लिए सो गई थी।

गोहलौतका राजतिलक

राजस्थानके दक्खिनमें हरे वनोंसे ढकी पहाड़ियोंका एक प्रसार है, मेवाड़। मेवाड़ ख्यातों और इतिहासकी दृष्टिसे वीरप्रसवा भूमि राजस्थान-का ही भाग है, उसका उज्ज्वलतम मूल्यतम भाग। पर उसकी शस्य श्यामला भूमिकी हरियाली निश्चय वालुकामयी मरुस्थलीकी नहीं, शाद्वला धरा मालवाकी है, साँझें और रातें जिसकी अभिराम होती हैं।

और भाषा उस मेवाड़की मारवाड़ी-राजस्थानीसे भिन्न है। अधिकतर गुजरातीसे मिलती, इतनी कि मीराके पदोंको वस जरा सा बदलकर गुजराती अपना कर लेते हैं। मेवाड़का सम्बन्ध इस तरह एक ओर तो मालवासे रहा है दूसरी ओर गुजरातसे। तीनोंकी सीमाएँ अक्सर मिलती रही हैं और अनेक बार तीनोंके अधिपतियोंने अपनेसे भिन्न शेष दोनोंपर अधिकार कर लिया है।

मेवाड़को दो ओरसे विन्धाचलकी शृंखलाएँ घेरती हैं। अरावलीकी उत्तुङ्ग पर्वतमालाएँ, और चम्बलकी सहायक बनास उसकी धराको उर्वरा करती है। इसी मेवाड़ने राजस्थानकी ख्यातोंको अपने विरुदोंसे सनाथ किया है। पर उन विरुदोंके निर्माता सोलंकियों और परमारोंका सम्मिलित रक्त था, यह कम लोग जानते हैं।

गुजरातकी राजधानी वलभीपुरी इतनी प्राचीन थी जितनी बौद्धोंकी प्राचीन सत्ता। कालान्तरमें उसका राजा शीलादित्य हुआ, विशिष्ट राज-शृंखलाकी अन्तिम कड़ी। गुजरात और सौराष्ट्रपर विदेशियोंके हमले पहले होते थे, शेष भारतपर पीछे। उसी राह यवन और शक आये, हूण और गूजर, उसी सिन्ध-गुजरातकी राह। उसी राह आभीरोंने देशपर

आक्रमण किये। शीलादित्यकी वलभीपर संभवतः हूण-गूजरोंके ही पिछले हमलोंने अपने ख़ूनी पंजे मारे।

भविष्यवक्ताओंने पराजयकी घोषणा कर दी। सूर्यकुण्डके शकुनोच्चारने सन्देह जगा दिया। राजा लड़ा, वीरदर्पसे लड़ा, पर लड़ा जीतनेके लिए नहीं, वीरधर्मके पालनके लिए। और वीरगति पायी भी उसने। तलवारके घाट उतर गया, जनपदके गाँव लपटोंमें झुलस गये, लोग पासके जंगलोंमें जा छिपे।

शीलादित्यका रनिवास बड़ा था। राजाका मन कुछ विलासी न था। पर मरजाद बड़ी थी, इससे रनिवास भी बड़ा बन गया। कुछ राजनीतिक सम्बन्धसे आईं, कुछ दैवचिन्तकोंके अनुरोधसे, कुछ राजाकी भक्तवत्सलता और औदार्यसे, कुछ नारीत्वके चमत्कारसे। और जब राजा खेत रहा तब रनिवासमें कुहराम मच गया, कुछ सुहाग छिन जानेसे, कुछ आनेवाली विपदाके भयसे, कुछ आक्रान्ताओंके व्यवहारसे। और राह बस एक ही सूझी, सनातनकी राह, सुहागलूटी सतीकी राह। चिता सुलग उठी, ज्वालाएँ लाल जिह्वाओंसे आसमान चाटने लगीं। सतियोंने पतिकी राह ली।

रानियोंमें एक बच रही, बस पुष्पवती, आसन्नप्रसवा। विन्ध्याचलके चरणोंमें चन्द्रावती नामकी नगरी थी, परमारोंकी। और इन्हीं परमारोंकी कन्या थी पुष्पवती। जब गर्भके लक्षण प्रगट हुए तब वह मायके जा पहुँची, जगदम्बाकी पूजाके लिए, जिससे प्रसव निर्विघ्न सम्पन्न हो, शीलादित्यका कुलांकुर जन्मे।

वलभी लौटते राहमें उसने स्वामीके निधनकी ख़बर सुनी। अवसन्न रह गई। लौट पड़ी। पर मायके नहीं गई। मलिया शैलमालाकी कन्दराकी उसने शरण ली। उसीमें उसने पुत्र जना। नवजातका अभिराम रूप देख रानी रोई। चिन्ता जगी—इसकी रक्षा क्योंकर हो? शत्रुओंसे भरे संसारमें किस प्रकार नवजातका शैशव बीते?

शैलमालाके निकट ही वीरनगरकी बस्ती थी। जा भटकी एक दिन रानी नवजातको लिये उस नगरमें। ब्राह्मणी कमलावतीका शील उसे भा गया। कुछ दिन उसका आतिथ्य भोग एक दिन रानीने अपना भेद उसके सामने खोल दिया। फिर बोली—बहन, इसी गर्भ-शिशुकी रक्षाके लिए यह अभागा तन स्वामीके गमनके बाद भी धरे हुए थी, वह कार्य सम्पन्न हुआ। अब मेरे बिरमनेका कोई अर्थ नहीं। अब तू ही इस नवजातको पाल। जब यह बड़ा हो, इसे ब्राह्मण शील ज्ञान सिखाना और राजपूत कन्यासे व्याह देना। चली, बहन, अब मैं उस अजाने देशको जहाँसे कोई न लौटा। तेरा मातृत्व जागे! तेरा आँचल नवजातके मोहसे भींज चले!

और रानी चली गई, चिताकी लपटोंपर चढ़, नवजातको कमलावती-की गोदमें डाल। और कमलावतीका मातृत्व जागा, उसका आँचल नव-जातके मोहसे भींज चला।

नवजातने न जाना कि वह बाँट पड़ा बालक है, दूसरी माँका जाया। क्योंकि कमलावतीका मातृत्व विकल था, उसके मोहसे विकल, अपने दायित्वसे विकल, ममताकी डोरसे विकल। नवजात बढ़ चला, शैशवसे कैशोरकी ओर, कैशोरसे यौवनकी ओर। सूरजकी धूप वनके वृक्षोंसे छनकर उसे छूती, साँझ उसे सरस परसती और चाँदनी उसके कठोर गातपर फिसल-फिसल बरस पड़ती। कमलावती उसे देख निहाल हो जाती। साभिमान देरतक उसे निरखती रहती और उसकी आँखोंसे सहसा नीर चू पड़ता। पुष्पवतीकी याद अनायास आ जाती।

साथ खेलने वाले बालकोंने पूछा, इसका नाम क्या है, भला? 'गोह', माँ बोली। क्या नाम है भला, 'गोह!' 'गोह' भी कोई नाम है? भीलों का-सा नाम। पर नाम, कहा ब्राह्मणीने, 'गोह' ही है। और गोह ही नाम पड़ गया, उस गुहामें जन्मे बालकका। ब्राह्मण-बालोंने भील-नामके बावजूद उसे प्यारसे भेंटा, गलहार बनाया। माँ कमलावतीका लाडला था वह,

कौन उसमें दोष निकाल सकता था ? कमलाके शीलका तो वीरनगरमें साका चलता था ।

कमलाने क्षत्रियके उस बालकको ब्राह्मणका शील देना चाहा, व्याकरण और धर्मशास्त्र पढ़ाना चाहा, पर प्रयत्न विफल हुआ । न सीखा गोहने ब्राह्मणका शील, न पढ़े उसने व्याकरण और धर्मशास्त्र । ब्राह्मण-बालोंका साथ भी उसने छोड़ दिया । भीलोंके बालक उसे प्रिय लगे । उन्हींके साथ वह खेलता और वनस्थलियोंमें रम रहता ।

उसे धनुषकी टंकार मधुर लगती, तीरका संधान उसे ऐसा खींचता जैसे लोहेको चुम्बक । और वह दिन-दिन रात-रात भील बालकोंके साथ वन-वन, कन्दरा-कन्दरा शिकारकी टोहमें, अरने भैंसों बनैले सुअरोंकी खोजमें भटकता फिरता । माँ कमलावतीकी वह एक न सुनता, गो उसे वह प्यार करता, उसका आदर करता । माँ उसके पीछे-पीछे फिरती, वन-वन, कन्दरा-कन्दरा और रात बीते जब तब ला पटकती उसे अपने द्वार । उसे बड़ा दुःख होता जब गोह पेड़से अण्डे उतार उसके देखते-ही-देखते उन्हें तोड़ रस पी जाता और छक कर साँस लेता, जब हालके डैने निकले परिन्दोंको सहसा पकड़ वह उनकी गरदन मरोड़ देता । और कमला वहीं बेबस हो जाती ।

× × ×

मेवाड़की दक्खिनी शैलमालामें तब भीलोंका एक छोटा सा जंगली राज था, ईडर । भील मण्डलीक उसका राजा था । भील ही उस समूची वनस्थलीके स्वामी थे । गोह उन्हीं भीलोंका प्यारा बना, उनके माल्यका एकान्त लक्ष्य । भीलोंके लड़कोंके साथ वह खेलता, विकट ख़तरेभरे खेल, जानलेवा ख़ूनी खेल ।

और एक दिन बस उसी ईडरके बनैले भूभागमें भील-बालोंने एक नया खेल रचाया । राजदरबारका, शासन और दण्डका । ऐसे खेलोंमें

शक्तिकी पूजा होती है, प्राणवान नर खोजा जाता है। कोई दुविधा न थी, शक्तिकी सींव, पौरुषकी मूर्ति गोह सामने ही खड़ा था, भीलोंने उसे तत्काल राजा चुन लिया।

पर राजा चुन लेने मात्रसे कोई राजा नहीं हो जाता। राजाके परिच्छद होते हैं, लांछन होते हैं, उसका वितान होता है, फिर उसका तिलक होता है। तब कहीं वह सिंहासनासीन होता है, शासनकी बागडोर सम्हालता है, छत्र और दण्ड धारण करता है। सो सब वहाँ कहाँ? पर जब कल्पना निःसीम होती है, जिन्दगी बाज़की तरह पर मारती है, तब भला किस सम्बलकी कमी हो सकती है? किस साधनकी?

सो सब भील बालोंने सब मुहैया कर दिया। परिचरोंकी क्या कमी थी? भील बाल सर्वत्र अनुचरोंकी भाँति डोलने लगे। कोई ख़वास बना, कोई सेवक, कोई सैनिक, कोई सेनापति, कोई मंत्री, कोई पुरोहित। लता-प्रतानोंका वितान तन गया, धनुषोंकी गोलाईमें बुना बाणोंका छत्र राजाके सिरपर छा गया, मोरपंख और फूलोंका मुकुट राजाके मस्तकपर सोहने लगा। दो भील कुमार मूँज-सरपतके धवल शिखर ले राजाके दोनों ओर चँवर डुलाते खड़े हुए। राजा डालोंसे बने सिंहासनपर जा बैठा।

अब अभिषेकके लिए जल और तिलकके लिए चन्दनकी आवश्यकता पड़ी। पासके निर्मल झरनेसे जल आ गया, पर चन्दनकी सुध किसीको नहीं आई थी। सो अनेक भील बाल चन्दन लाने पासके गाँवकी ओर दौड़े। चन्दन आ गया, घिस कर तैयार हो गया। फिर भील पुरोहित झरनेका जल लेकर आगे बढ़ा। दूसरे पुरोहित मन्त्रोच्चार गुनगुनाने लगे। कमलों भरे जलके छींटे पुरोहितने राजाके मस्तकपर मारे, पर पत्तोंकी थालमें रखे चन्दन और अक्षत उठा जैसे ही वह तिलक करने राजाकी ओर बढ़ा, एक भील बालक सहसा खिलाड़ियोंकी भीड़से निकल उधर झपटा।

"ऐसे राजाका तिलक इस तरह नहीं होता, तनिक ठहर जा !" वह बोला, और पलक मारते अपनी बाईं भुजामें उसने बाणका फलक चुभा दिया। भुजासे रक्त छल-छल बह निकला। हथेलीपर अक्षत और चन्दन डाल उसने अपने लहूसे तर कर दिया और उसी हथेलीसे उसने राजाका तिलक कर दिया।

साँस रोके भील बाल यह ख़ूनी कौतुक देख रहे थे। सहसा एक स्वरसे वे जयकार कर उठे—राजा गोहकी जय! भीलराज गोह की जय!

गोहके रोंगटे खड़े थे, गात पुलकित था, स्नेह-सुख-विस्मयसे आँखें भर आईं। सिंहासन छोड़ वह उठा और रक्तरंजित भील बालकको उसने बाहोंमें भर लिया। खेल फिर न हो सका। क्योंकि खेल अब खेल न रहा, गम्भीर जीवन उसमें उमड़ आया था। ख़ूनी ज़िन्दगीका यह लाल सबेरा था।

× × ×

ईडरके बूढ़े भीलराज मण्डलीकने जब यह सुना, स्तब्ध रह गया। उसके सरदार-दरबारी स्तब्ध रह गये। गोहको उसने राजसभामें बुलाया। गोह आया। उसके साथ उसके भील साथी आये। गोहके एक बाजू उसका खेलमें बना मंत्री खड़ा था, दूसरे बाजू वही पुरोहित जिसकी भुजाका घाव अभी भरा न था, और पीछे उसके प्यारे मित्र खड़े हुए, भील बाल।

बूढ़ा राजा मण्डलीक सहसा सिंहासनसे उतरा और गोहको गलेसे लगाता हुआ बोला—"ईडरके राजा तुम हो, गोह, भीलोंके रक्तसे अभिषिक्त! भोगो यह राज। तुम्हारा वंश उसे भोगे, गोहलौत कहलाये! मेरा घर तो बनमें है, इधर भटक आया था, अब चला।"

और इस प्रकार गोहको ईडरका राज सौंप भीलराज मण्डलीक भाला टेकता हुआ जंगलकी ओर चला गया। गोह राजा हुआ, उसकी सन्तति 'गोहलौत' कहलाई, पर किसीने जाना, उस भीलराजका क्या हुआ, उस जनकका, जिसने अपनी राजसभाको ज्ञानियोंका अखाड़ा तो नहीं बनाया पर मानवीयतासे द्रवित हो जो वह वनमें गया तो फिर सिंहासनकी ओर लौटा नहीं।

प्रश्नका उत्तर

पराक्रमी सिकन्दर जब व्यासके तीरसे अपनी सेनाके हथियार डाल देनेपर खीझ कर लौटा तब रावीके तीर उसे मालवोंसे जूझना पड़ा। पंजाबकी जमीनपर तब पंचायती राज्योंका बोलबाला था। अभिजात कुलों द्वारा प्रशासित अनेक राष्ट्र पंजाबकी भूमिपर खड़े थे और सिकन्दरके आते-जाते उन्होंने पग-पगपर उसकी विजयिनी सेनाओंको ललकारा था।

इन्हीं राष्ट्रोंमें एक मूषिकोंका था, सिन्धके प्रदेशमें। पंजाबकी परम्परा के विपरीत मूषिक दास नहीं रखते थे, अपने आप खेती बारीके सारे काम करते थे। उनकी साँचेमें ढली-सी सुन्दर स्वस्थ सबल देह देख सिकन्दरकी सेनाको स्पार्तके नागरिकोंकी याद आई, और उनके अचरजका ठिकाना न रहा जब उन्होंने सुना कि मूषिक एक सौ तीस बरस तक जीते हैं।

सिकन्दरने मूषिकोंको कई मोर्चोंपर हराया, पर बार-बार हारकर भी उन्होंने उसकी राह रोकी और पूरी तरह वे सर न हो सके। उनके नेता अधिकतर ब्राह्मण थे, प्रधानतः उन्हींका वह राष्ट्र भी था, और उस राष्ट्रका गणमुख्य था शम्भु। कहते हैं कि जिस आखिरी मोर्चेपर मूषिकोंसे ग्रीकोंकी मुठभेड़ हुई थी उसमें ८०००० मूषिक मारे गये थे। ज़ाहिर है कि देशका प्रेम इनकी रग-रगमें रवाँ था जिससे इतनी बड़ी संख्यामें वे बलिदान हो सके।

मूषिकों और सिकन्दरके सम्बन्धकी एक बड़ी दिलचस्प कहानी एक प्रसिद्ध ग्रीक लेखक प्लूतार्कने लिखी है। सिकन्दरके साथ कुछ ग्रीक दार्शनिक भी थे जो भारतीय ऋषियों और दार्शनिकोंके चमत्कार देखनेके

लिए उसके साथ हो लिये थे। वैसे तो उस विजेताका भारतीय तपस्वियोंसे अनेक बार साक्षात्कार हुआ था पर उसका जो आश्चर्यजनक सामना मूषिकोंके बीच हुआ वह इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जाने योग्य है। प्लूतार्क लिखता है कि मूषिकोंके नेता ब्राह्मण थे और उन ब्राह्मणोंमें कुछ तपस्वी साधु भी थे, जिनमेंसे एकने सिकन्दरकी महत्त्वाकांक्षाका बेहद मखौल उड़ाया। उसने कहा—आख़िर हम भी तुम्हारी ही तरह मनुष्य हैं, फ़र्क बस इतना है कि जहाँ हम शान्तिपूर्वक अपने घरमें रहते हैं वहाँ तुम बौखलकी तरह अपना घर छोड़ दूर-दूर जाकर दूसरोंके काममें ख़लल डालते फिरते हो। आप भी तक़लीफ़ बर्दाश्त करते हो, दूसरोंको भी तकलीफ़ देते हो, छिः!

सिकन्दर उस साधुका साहस देख दंग रह गया। और जब उसने उसकी हिम्मतको सराहा तब किसीने ख़बर दी कि यह तो क्या इस इलाक़ेमें एकसे एक बेनज़ीर मुनी हैं जो क़ुदरतके सारे करिश्मे और उनके भेद जानते हैं। फिर क्या था, सिकन्दरने हुक्म दिया और प्रसिद्ध तपस्वी चुन कर पकड़ लिये गये। ऐसे ऋषियोंकी संख्या नौ थी, और दसवाँ वह था जिसने सिकन्दरको बौखल कहा था।

सिकन्दरने उसकी ओर मुख़ातिब होकर कहा—"मैं इन दसों साधुओंसे एक-एक सवाल करूँगा, तुम सुनो और बताओ कि इनमें सबसे ज़्यादा हाजिरजवाब कौन है। जो सबसे ज़्यादा हाज़िरजवाब होगा उसकी सबसे पहले और उसी सिलसिलेसे बाक़ियोंकी भी जान लूँगा।"

साधु आसन मार जजकी जगह बैठ गया। एकके बाद एक साधु सिकन्दरके सामने आता गया, सिकन्दर उससे सवाल करता गया और वह जवाब देता गया। हर साधु नंगा था, साधु वे नंगे रहते ही थे। गज़बका मुक़ाबिला था—एक ओर ख़ल्कका मालिक सिकन्दर था, दूसरी ओर निहत्था

नंगा साधु, जिसके पास अपना कहनेको सिवा कमजोर जिस्मके और कुछ न था।

सिकन्दरने एकसे पूछा—तुम्हारे विचारमें जीवित मनुष्योंकी संख्या अधिक है या मृत मनुष्योंकी?

साधु बोला—जीवित मनुष्योंकी, क्योंकि मृत मर कर फिर रहते नहीं।

सिकन्दरने दूसरेसे पूछा—जीव समुन्दरमें ज्यादा हैं या पृथ्वीपर? साधुने उत्तर दिया—पृथ्वीपर, क्योंकि समुन्दर पृथ्वीका ही एक भाग है।

सिकन्दरने तब तीसरे साधुसे पूछा—जानवरोंमें सबसे बुद्धिमान कौन है?

तत्काल व्यंग्य भरा उत्तर मिला—वह, जो अब तक मनुष्यकी आँखसे अपनेको बचा सका है, जिसका पता मनुष्य अभी तक नहीं पा सका।

सिकन्दरने चौथेसे पूछा—तुमने शंभुको बग़ावतके लिए क्यों उकसाया?

साधु बोला—इसलिए कि मैं चाहता था कि यदि वह जीये तो इज़्ज़तके साथ, मरे तो इज़्ज़तके साथ।

विजेताने फिर पाँचवें साधुसे पूछा—पहले क्या बनाया गया, दिन या रात?

बेधड़क उत्तर मिला—दिन, रातसे एक दिन पहले?

सिकन्दर कुछ समझ न सका, चकरा गया। भवोंपर बल डाल झल्लाया सा उसने पूछा—मतलब?

"मतलब कि असम्भव प्रश्नोंका उत्तर भी असम्भव ही होता है।" साधु बोला। सुननेवालोंने उसकी निर्भीकतापर दातों तले उँगली दबा ली।

सिकन्दर कुछ हतप्रभ हो चला था। उसे लगा कि अपनी विजयोंके बावजूद वह कुछ ऐसोंके बीच खड़ा है जो हार कर भी उससे हारे नहीं

और नंगे होकर भी उसे तुच्छ समझते है। पामाल सा उसने छठे साधुसे पूछा—मनुष्य किस प्रकार दुनियाका प्यारा हो सकता है ?

साधु बोला—बहुत ताक़तवर, पर साथ ही प्रजाका प्यारा होकर, जिससे प्रजा उससे डरे नहीं।

सिकन्दरने फिर सातवें साधुसे पूछा—मनुष्य देवता कैसे बन सकता है ?

साधुने उत्तर दिया—अमनुजकर्मा होकर।

डूबते सिकन्दरको जैसे सूखी ज़मीन मिली। क्योंकि वह स्वयं अमनुज-कर्मा था। अपनेको देवताओंका वंशज वह मानता-कहता भी था। अब वह आठवें साधुकी ओर फिरा।

पूछा—जीवन और मृत्यु दोनोंमें अधिक बलवान कौन है ?

साधु बोला—जीवन, क्योंकि वह भयानकसे भयानक तकलीफ़ बर्दाश्त कर सकता है।

सिकन्दरने तब नौवें साधुसे पूछा—कबतक जीना इज्ज़तसे जीना है ?

उत्तर मिला—जबतक मनुष्य यह न सोचने लग जाय कि अब जीनेसे मर जाना अच्छा है।

जवाबोंका मारा सिकन्दर अब उस साधुकी ओर फिरा जिसे उसने जज बनाया था। उसने उससे पूछा—किसका उत्तर सबसे चुटीला है ?

साधु भला अपने भाइयोंकी जान कैसे ले सकता था ? उसने बड़ी युक्तिसे जवाब दिया—उत्तर एकसे एक बढ़कर हैं।

सिकन्दरने जब यह देखा कि जजका उत्तर स्वयं पहेली बन गया जिसकी गुत्थी स्वयं उसे सुलझानी होगी, तब वह झल्ला उठा और जजसे बोला—तुमने इतना अनुचित न्याय किया है कि सबसे पहले मैं तुम्हें ही यमलोक पठाऊँगा।

इसपर हँसता हुआ साधु बोला—राजन्, ऐसा करनेसे तुम झूठे साबित होगे। तुमने मुझसे पूछा था कि कौन उत्तर उत्तम है, मैंने कहा, उत्तर एकसे बढ़कर एक है। मतलब इसका यह है कि कोई जवाब किसीसे घट कर नहीं है। अब अगर तुम मुझे या इन्हें मारोगे तो स्वयं झूठे साबित होगे।

साथके ग्रीक दार्शनिकोंने फिर तो सिकन्दरको लाचार कर दिया और उसने साधुओंको बंधनमुक्त कर दिया। साधु मुसकराते हुए जिधरसे आये थे उधर चले गये। न उन्हें दुख व्यापा न सुख।

गज़नीका पण्डित

१

बुतशिकन महमूद मर चुका था। उसका बेटा मसूद गजनीकी गद्दी पर आसीन था। बेटा जिस्मी क़ूवतमें बापसे बढ़कर था। शाहनामाका रुस्तम जैसे उसमें जी उठा था। उसकी एक चोटसे गजराज तिलमिला उठता, भैसा ऐंठ जाता। उसका जंगी फरसा दूसरा कोई घुमा नहीं सकता था, उस मसूदका। और वही मसूद प्यालोंके दौरमें औरोंको जहाँ बेपर्द कर देता, अपनी अहमियत क़ायम रखता।

बैहाकी लिखता है, "मैं, अबुलफ़ज्ल, बयान करता हूँ वह नज़ारा जो मैंने अपनी आँखों देखा है।" बैहाकीने देखा—

अमीर (सुल्तान) जा बैठा फ़ीरोज़ी बाग़में हरे चन्दोबे तले सुनहरे तख़्तपर, तड़के ही। फ़ौजें सामनेसे गुज़रने लगीं। पहले शाहज़ादे मौदूदका सितारा निकला, फिर जिरहबख़्तर पहने, बरछे लिये, चाँदनी और झण्डे लिये शाही हरमके दो सौ ग़ुलाम निकले, फिर घुड़सवार और साँड़नी-सवार, फिर झण्डे-सितारे लिये पैदल और उनकी अनगिनत क़तारें।

दोपहर हो चली। सुबहका नाश्ता कबका हो चुका था, अब शुरू हुआ दिनका वह जौहर फ़ीरोज़ी बाग़में जिसके लिए सुल्तानकी सवारी आई थी। अमीरके चारों ओर उमरा बैठ गये। पचास सुराहियाँ शीराज़ी, दमिश्की, फिरंगी शराबसे भरी सामने रख दी गईं। मीना और प्याला लिये साक़ी खड़े हो गये। अमीरने ऐलान किया—'दिल खोलके पियें, बरा-बर वज़नसे पियें, प्यालोंकी तादाद कम न हो, यारो, ईमानसे पियें!'

दौर चल पड़े प्यालोंके। नीले, सुर्ख़, सब्ज प्यालोंके। आँखें लाल, चेहरे सुर्ख़, अँगड़ाइयाँ, खुमारी। क़हक़होंके बीच मस्तीसे गाई ग़ज़लें। एक

दरबारी होश खो चला था। पाँच ऊँचे प्याले वह पी चुका था, छठेने उसे हिला दिया, सातवेंने बेसुध कर किया, आठवेंने नौकरोंके हवाले। शाही हकीम पाँचवेंके बाद ढेर हो गया, घर भेज दिया गया। स्याहबुर्ज़ने नौ ढाले, ख़लील दाऊदने दस। अब्दुर्रज़्ज़ाक अकेला सुल्तान मसूदका साथ दिये जा रहा था। एक-एक कर सत्रह प्याले उसने गलेसे नीचे उतार दिये, अट्ठारहवेंके बाद वह खड़ा हो गया। बोला—'जहाँपनाह, गुलामका दौर जो जारी रहा तो गुलाम दोनों खो बैठेगा—अक़्ल भी, अदब भी।'

सुल्तानने मुसकरा कर उसे रुख़सत किया। पर ख़ुद उसने हाथ न खींचा। अट्ठारहसे बीस हुए, बीससे बाईस,बाईससे चौबीस। मसूदके हाथ सत्ताईस प्यालोंके बाद जाकर रुके, जब उसने इशारेसे साक़ीको रोक दिया। सूरज उठा था, देखते ही देखते आसमानकी चोटीपर चढ़ एक बार हैरतमें थम गया था, फिर पच्छुमी पहाड़ोंके पीछे ढल चला था।

जिस्ममें कहीं बेबसी न थी, पेशानीपर एक बल न था। सुरमई आँखोंकी सफ़ेदीमें ढलता सूरज उतर आया था, नीले डोरे हल्के लाल हो चले थे। जैसे एक बूँद न छुई हो। पानी मँगाया, जाँनमाज़ मँगाया। वज़ू किया, दूर-दुपहरी और गुज़रती शामकी नमाज़ एक साथ अदा की। चुप-चाप हाथीपर चढ़ा और महलोंकी ओर चल पड़ा।

२

१०३३ ईस्वीका ज़माना था, पंजाबपर अहमद नियाल्तगिन काबिज था, मसूदका गवर्नर। नियाल्तगिन बेचैन बेख़ौफ़ आदमी था, और जब वह सुल्तानकी पहुँचसे दूर, उसकी नज़रोंसे दूर, बाजोर और लमग़ानसे परे पंजाबके अपने इलाक़ेमें होता तब तो वह बिल्कुल ही बेख़ौफ़ हो जाता, बिधाताकी तरह बनाने-बिगाड़नेवाला। गुज़रे सुल्तान महमूदकी हरावलमें हिन्दुस्तानके प्रान्तोंपर वह धावे-पर-धावा कर चुका था, उनकी लूट और लूटसे पाई दौलत उसकी जानी थी। उसके अपने सपने थे और उन सपनों-

में उसके अरमान इस क़दर पेंग मारते कि एक दिन उसने सहसा कूदकर घोड़ेकी रिकाबमें पैर डाले और उसकी बाग पूरबकी ओर कर दी।

नियाल्तगिनने गज़नीके सुल्तानके ख़िलाफ़ यह बग़ावत की थी, क्योंकि सालों पहले, महमूदके गुज़रते ही, नये सुल्तानने फ़रमान निकाल दिया था कि साम्राज्यके प्रान्तोंका कोई गवर्नर साम्राज्यके बाहर बग़ैर सुल्तानके हुक्मके हमला न करेगा। गज़नी और भारतकी सरहदके गवर्नर लूटकी हविस लिये हिन्दुस्तानके नगरोंपर हसरतभरी प्यासी निगाहें डालते रहे थे, पर उनके घोड़ोंकी रास खिंची थी, क्योंकि सुल्तानका डर बड़ा था, अरमानोंके सच करनेकी हविससे कहीं बड़ा। और हिन्दुस्तान पर धावे रुके रहे, बाज़ोंके चंगुलसे उसके नगर बचे रहे, बाज़ यद्यपि उनके दूरके आसमानमें मँडराते रहे।

पर यह नियाल्तगिन था, महमूद-मसूदकी तरहका ही जवाँमर्द तुर्क, और उसने जो पूरबकी ओर अपने घोड़ेका रुख़ फेरा तो उसके-से ही जवाँमर्द वफ़ादार रिसाले उसके पीछे दौड़ पड़े। पूरबकी ओर, और पूरब; व्यास पार सतलज और जमुना पार। दिल्ली और कन्नौज पीछे छूट गये, उजड़ी मथुरा भी छूटी, उजड़े नगरोंमें सब कुछ लुटकर भी अभी बहुत कुछ बचा था, पर उनकी ओर नियाल्तगिनका रुख न फिरा, वहाँ उसने मंज़िल न की, उनके बीच दरकी छातीके बीचसे चीरती चली गई छुरीकी तरह वह उन्हें चीरता पूरब निकल गया। गंगा-जमुनाके संगमपर तीरथराज प्रयाग बसा था पर उसका वैभव उसका इष्ट न था। वह और पूरब बढ़ा, अपनी मंज़िलकी ओर।

मंज़िल उसकी काशी थी, तुर्कोंके ज़बानमें बनारस, जहाँके मन्दिरोंमें सोना बरसता था, सदियों बरसता रहा था, बिल्कुल अछूता, और जहाँ महमूदके बावजूद कोई मुसलमान अबतक न पहुँचा था। विजयी गाज़ी और क़ुरबान शहीदके परेके अरमान साधने वाला नियाल्तगिन जब बनारस पहुँचा तब उसपर कलचुरियोंका राज था। गांगेयदेव और लक्ष्मीकर्ण,

पिता-पुत्र, दोनों जीवित थे, दोनोंकी कीरत उत्तरापथके चन्देलों और परमारोंके साथ लिखी जाती थी। सोलंकियोंके डूबे सूरजपर परमारों और कलचुरियोंका चाँद उठ चला था।

पर नियाल्तगिनके रिसालोंकी उठती धूलने चाँदके ऊपर घना पर्दा डाल दिया और बनारसकी सड़कोंपर सहसा अँधेरा छा गया। सच पूछो तो दिनकी रात हो गई। घाटोंसे नहा कर आते लोग हमलावरके घोड़ोंसे टकरा कर टूट गये, मन्दिरोंके कपाट सहसा बन्द हो गये। निरन्तर उनकी देहलीमें बजते रहने वाले घण्टे चुप हो गये, हरहर महादेवकी गूँज एकाएक बन्द हो गई, वैसे ही जैसे नागरिकोंके महलोंके कपाट भी बन्द हो गये। पर बन्द कपाटोंसे लूटनेवालोंकी बाढ़ कब रुकी ? मन्दिर और महल लुट गये। सड़कोंपर, भवनोंके आँगनोंमें, घाटोंपर, लाशोंके अम्बार खड़े हो गये। और जबतक नागरिकोंको होश आया, नगरके रक्षकों और कोतवालने कलचुरियोंकी काशीकी छावनीको आगाह किया तबतक नियाल्तगिनके रिसाले अपने हज़ार-हज़ार साड़िनियोंपर बनारसका सदियोंका सोना लादे दूर पच्छिम निकल गये। गांगेयदेव और उसका बेटा लक्ष्मीकर्ण उत्तरकी ओर बढ़े, काशीकी ओर, चन्देलोंने अपने घोड़े सम्हाले, राजा भोज अपनी धारासे निकला, तबतक नियाल्तगिन प्रयाग, कन्नौज, मथुरा और दिल्ली लाँघ चुका था, लाहौरमें था।

पर यह बग़ावत थी। सुल्तानके खिलाफ़ बग़ावत। गज़नीके अधिकारसे बग़ावत। और सुल्तान मसूद, जो अरने भैंसेको एड़ मार गिरा सकता था, गजराजको पछाड़ सकता था, नियाल्तगिनकी इस जुर्रतको तरह देनेवाला आदमी न था। अपने वज़ीर अब्दुर्रज़्ज़ाकको उसने तलब किया। उसके आते ही हुक्म दिया—भेजो फ़ौजें लाहौर, मुझे सर चाहिए दीवानेका, बदकार बाग़ीका।

और, वज़ीर चुपचाप चला गया था, हुक्म बजा लाने।

३

पर हुक्म बजा लाना कुछ आसान न था, अब्दुर्रज्ज़ाककी सूझ-बूझके बावजूद। फ़ौजें गईं, आज़माये सिपहसालार गये, जाँबाज़ ख़ूनी दस्ते गये, पर न लाहौर सर हुआ, न उसका हाकिम। वज़ीर पांमाल था, सुल्तान जैसे ज़िच।

सुल्तानने वज़ीरको फिर बुला भेजा, कहा, 'अब मैं ख़ुद लाहौरकी ओर कूच करूँगा, क्योंकि देखता हूँ गज़नीमें अब फ़रग़नाके मर्द न रहे, कि अब हिन्दुकुशकी सफ़ेद बर्फ़पर शैतानका साया पड़ा है।'

वज़ीर सकतेमें आ गया, बोला—'जहाँपनाह, कुर्दिस्तान ख़तरेमें है, ईरान करवट ले रहा है, इराक जाने कब खड़ा हो उठे, बलख़ और बुख़ारा उजबक रिसालोंके पैरों तले कसमसा रहे हैं, सुल्तान-आज़म गज़नी नहीं छोड़ सकते। सब्र करें, मालिक, दस्तबस्ता अर्ज़ कर रहा हूँ, इस पगड़ी-की लाज रखें वरना बुढ़ापेमें मेरी वज़ारतको कालिख लग जायेगी।' और वज़ीरने पगड़ी उतार कर सुल्तानके क़दमोंमें रख दी।

सुल्तान चुप हो रहा और वज़ीर नये क़ौलके साथ अपने महलों वापस चला गया।

एक गोरा ग़ुलाम दिनोंसे सुल्तान और उससे ज़्यादा अपने मालिक वज़ीर अब्दुर्रज्ज़ाकके दिलोदिमाग़का हाल चुपचाप देखता रहा था, नये ख़तरेका अन्दाज़ करता रहा था। उनकी एक-एक हरकतपर उसकी नज़र थी, और अपने मालिककी पेशानीका एक-एक बल उसकी निगाहका जाना था। वह कश्मीरका पण्डित था, तिलक। दुनियाकी मक्कारी, कहते हैं, दो हिस्सोंमें बँट गई थी, एक हिस्सा समूची दुनियाके पल्ले पड़ा दूसरा समूचा हिस्सा अकेले तिलकके पल्ले। गज़बका धूर्त था तिलक, हरफ़नमौला। जानी दुई दुनियाकी कोई ज़बान न थी जो वह न जाने, जो वह बोल न सके। और स्वाभाविक ही मालिकने नज़र उसपर डाली, लाचार नज़र।

तिलक जैसे उसी नज़रके इन्तज़ारमें दिनों साँस रोके बैठा था। ज़मीन तक झुककर उसने आदाब बजाया, बोला—'इर्शाद, मेरे आका!'

'जानता तो है, तिलक, तू मेरे मनकी गाँठ। बता तो सही किसपर एतबार करूँ, किसे यह काम सौंपू। सुल्तानने आज दस्तरख़ानसे भी हाथ खींच लिया। कहते हैं, मेज़पर जब नियाल्तगिनका सर होगा तभी अब वे दस्तरख़ानको लौटेंगे। सुल्तानकी जान जोखिममें है, तिलक, मेरी सारी लियाक़तपर पानी फिरा चाहता है। बता मेरे अक़्लमन्द दोस्त, किसे लाहौर भेजूँ?' वज़ीर बोला।

'मुझे, मेरे मालिक!'

'तुझे?' वज़ीर एक बार हँसा, फिर सहसा उसकी आकृति गम्भीर हो उठी। वह फिर बोला, 'तुझे, हाँ, तुझे। तू शायद इसे सर कर आये, क्योंकि तलवारें अब टूट चुकी हैं, और जहाँ तलवारें टूट चुकी हैं, मुमकिन है वहाँ दिमाग़ कामयाब हो जाय। जाओ, गज़नीके ख़जानेकी यह कुंजी है, गज़नीके सिपहसालारोंको यह हुक्मनामा है, ले लो, जाओ। इस सफ़ेद बेदाग़ दाढ़ी पर मरते दम नाक़ामयाबीका धब्बा न कहीं लग जाय, ख़बरदार!'

और वह पाँच फ़ुट पाँच इंचका मझोले क़दका इन्सान मुजरा करता चुपचाप वज़ीरके सामनेसे चला गया।

दो घण्टे बाद सुल्तानके हज़ूरमें खड़े हो वज़ीरने दस्तबस्ता कहा, 'जहाँपनाह, ख़ातिरजमा रखें, मुनासिब कन्धों पर भार डाला है, मुनासिब हाथोंने बीड़ा उठाया है। काम सर होकर रहेगा।'

सुल्तान की बेरौनक़ आँखें ऊपर उठीं, जैसे चुपचाप पूछा—'कौन है वह जवाँमर्द जिसने हुक्म बजा लेनेका बीड़ा उठाया है?'

'तिलक।' वज़ीर बोला।

'जोरसे हँसीका फ़ौआरा फूटा, व्यंग्यकी हँसीका। और हँसी यह

मसूदकी थी। महलकी दीवारें तक हिल गईं, वज़ीरका तिरस्कार करतीं, जैसे उन्होंने उसकी ही आवाज़ दुहराई—'तिलक ?'

'हाँ, तिलक !' वज़ीरने जैसे आँखोंके सवालकी ही जबावके तौर पर प्रतिध्वनि की—'आलमगीर, सत्तर सालका यह बूढ़ा अपने मालिकके इस सदमेके वक़्त मज़ाक नहीं करता। पर ज़रूर दो दिनकी मुहलत दें, दस्तर-ख़ानको आबरू दें। जहाँपनाहके इक़बालसे काम फ़तह हो जायगा।'

'मसूदका क़ौल मजाक नहीं है, वज़ीर, पर तुम्हारे इन्तज़ाम पर भरोसा करता हूँ। खाना तो मेरा तभी होगा जब बाग़ीका सर मेरे सामने होगा।' सुल्तान बोला।

× × ×

नियाल्तगिन सिंध पार कर हमलेके अंदेशेमें गज़नीकी राहका नाका-नाका रोके पड़ा था। तिलक चंद साथियोंके साथ उसकी फ़ौजमें खो गया। एक-एक घण्टा उसके लिए क़ीमत रखता था, एक-एक लमहा उसकी जानपर हावी था। तेज़ीसे वह अपना मक़सद हल करने लगा। काबुली रुपये जाटोंमें चुपचाप बँट गये, रातों-रात घक्खरोंने लाहौरके हाकिमके सरका सौदा कर लिया। रातों ही रात लाहौरके हाकिमकी फ़ौज़ोंके पड़ावके बीचसे, ख़ुद उसके तम्मूसे, नियाल्तगिन ग़ायब हो गया।

तीसरे दिन तीसरे वक़्त जब वज़ीरने सुल्तानके सामने हँसते हुए कहा, 'जहाँपनाह, दस्तरख़ानको बारुतबा करें, बाग़ीका सर मेज़ पर है।' तब सुल्तानको यक़ीन न हुआ।

पर सुल्तान उठा; दरबारके साथ दस्तरख़ानके पास जा पहुँचा। मेज़ पर नियाल्तगिनका सर सोनेकी थालमें परसा पड़ा था। दरबारियोंके कण्ठसे एक साथ आवाज़ उठी—'अल्लाहो अकबर !'

सुल्तानने जब वज़ीरकी ओर अपनी एहसानमंद आँखें उठाईं तब देखा, वज़ीरकी आँखें भरी हुई थीं।

'शुक्रगुज़ार हूँ, वज़ीर !' सुल्तान बोला।

'अब्दुर्रज़्ज़ाक जहाँपनाहका बंदा है, ग़रीबपरवर, खुद शुक्रगुज़ार इस हिंदू ग़ुलामका !' वज़ीर बोला और खंभेकी आड़से तिलकको खींचकर उसने सुल्तान और दरबारके सामने कर दिया।

तिलकके होंठ कोरनिसमें ज़मीन चूम रहे थे, पर सिर उठाते ही उसकी आँखें लमहे भरको सुल्तानकी उन आँखोंसे मिलीं जो एहसानके नूर-से रोशन थीं।

मुसकराते हुए सुल्तानके मुँहसे धीरेसे निकल पड़ा—'अव्वल अफ़-ग़ान....!'

और दरबारियोंने ईरानियोंकी वह कहावत पूरी कर दी जिसको क़लमसे लिखा नहीं जा सकता। सुल्तानके ठहाकेकी प्रतिध्वनि दरबारियोंके कण्ठसे फूटी और महलकी दीवारें हिल उठीं।

कश्मीरी पण्डित गज़नीके वज़ीर आज़म अब्दुर्रज़्ज़ाकके प्राइवेट सेक्रेटरी तिलकके चेहरेपर बस ख़ामोशी थी, उसकी चिंदी आँखें ज़रा और सिकुड़ गई थीं।

दाहिर-कुमारियोंका बदला

वह पहला जौहर था। राजपूत नारियोंकी वीरता और बलिदानका प्रतीक। वह जौहर बार-बार इस देशमें रचा गया। बार-बार आगकी उन लपेटोंने आसमान चूमा जिनके ईंधनमें इन्सानकी देह मिली थी, पर जिनमें आनके लिए जलते हुए भी उसने उफ़ नहीं की। हम जिस जौहरकी बात कहने जा रहे हैं वह राजपूती जौहरसे पहलेका है जिसे ब्राह्मणीने रचा।

बात पुरानी है, सन् ७१२ ईसवीकी। अरबमें अस्सी वर्ष पहले जो चिनगारी चमकी थी उसने अब तक दावाग्निका रूप धारण कर लिया था। समरकन्द और काशगरसे स्पेनके अलहमरा तक, तातारीसे मिस्र तक इस्लामका नया साम्राज्य क़ायम हो चुका था। उसी सिलसिलेमें भारतपर भी चढ़ाई हुई थी।

ख़िलाफ़त उमैया ख़ानदानकी थी, अल हज्जाज ख़ल्दका गवर्नर था और भारत ख़ल्दसे ही लगा हुआ समझा जाता था। ख़ल्द सिन्धु सभ्यताके दिनोंसे ही, हज़ारों सालसे, भारतका पड़ोसी राज्य रहा था—ख़ल्द, एलाम, बिलोचिस्तान, सिन्ध—एक सिलसिला। मुमकिन न था कि अल हज्जाज-के-से साम्राज्यवादीको पासका यह ऋद्ध देश न दीखता।

अपने भतीजे मुहम्मद इब्न कासिमको उसने सेना देकर भारत भेजा। सत्रह सालके मुहम्मदने ग़ज़बका हौसला दिखाया। देवलकी लड़ाई उसने घण्टोंमें जीत ली। और तभी राजा दाहिरकी बहनने महलकी रानियों और दूसरी नारियोंको इकट्ठा किया। दुश्मनके हाथमें पड़नेका मतलब था, दीन, ईमान सब कुछ खोना। राह बस एक थी, सामनेकी लपटोंमें समा जाना।

चिता धीरे-धीरे ऊपर उठती जाती थी। उसकी सुनहरी लपटोंसे चन्दनकी गन्ध उठ-उठ हवामें पसर रही थी। महलकी सम्पदा, उसके बहुमूल्य सामान, रेशम किमख़ाब सब उसमें भस्म होते जा रहे थे। पश्चिमकी दुनिया—एशिया, मिस्र और यूरोप—से जल और थलकी राह आई व्यापारकी सारी अनोखी चीज़ें जली जा रही थीं।

राजाकी बहन उठी। उसकी सुनहरी कायापर जैसे मदनने झण्डा फहराया था। उसके रूपपर आँख नहीं टिकती थी। अभिराम सिंगार उसने किया था। उन सबने भी, जो उसके पीछे कतारमें खड़ी थीं। वह आगे बढ़ी, पूरी कतार शालीनतासे हिली, मन्त्र पढ़ते ब्राह्मणोंके पाससे निकली, चिताकी परिक्रमा की और चितापर चढ़ गई। किसीने ललाटपर बल न आने दिया। अग्निकी लाल ज्वालामें सभी राख हो गईं। सतीत्वकी रक्षामें वह पहला बलिदान था।

पर उस चितासे दो कुमारियाँ अलग अलग रहीं। दोनों बहनें थीं; राजा दाहिरकी बेटियाँ। उन्होंने साथियोंके व्यंग सुने, धिक्कार सुने, पर रोष न किया, चुपचाप वे देवलसे बाहर निकल गईं।

× × ×

उन्हें हमलावरोंसे बदला लेना था। कुछ अजब नहीं कि अगले मोर्चे भारतके पक्षमें उतर जायँ, इससे वे मोर्चा-मोर्चा अरब सेनाओंके साथ चलीं, छिपीं-छिपीं। पहले बहमनाबाद, फिर मुलतान।

अरबोंने किश्तियोंके पुलसे सिन्धुको पार कर लिया। सामने खड़ी तीर-की बरसाती सेना उन्हें रोक न सकी। अगली लड़ाई फिर जमकर हुई, पर क़िस्मत उल्टी थी। नफ्था अग्निवाणोंने हौदोंमें आग लगा दी। उनकी चमकसे हाथी भाग चले। महलमें लड़ता राजा दाहिर खेत रहा। मुलतान-पर अरबोंका अधिकार हो गया। राजकुमारियोंकी आशा धूलमें मिल गई। अब बस एक साध रह गई थी, बदलेकी।

मुहम्मद कासिमने इस्लामके उसूलोंके मुताबिक नई रिआयासे बरताव किया। उसने ब्राह्मणोंको बुलाकर लगानकी वसूली उनके ज़िम्मे की और ऐलान किया कि हिन्दुओंके मन्दिर उसी तरह पाक समझे जायँगे जिस तरह ईसाइयोंके गिरजे, यहूदियोंके मन्दिर और मगोंकी पूजा-वेदियाँ। अपने अहलकारोंको बुलाकर उसने कहा—"रिआया और हाकिमके बीच ईमानदारी बरतो। अगर मिल्कियत बाँटनी हो तो बराबर-बराबर बाँटो और लगानकी दर अदा करनेकी कुव्वतके मुताबिक तै करो। आपसमें मेल रखो, लड़ो नहीं, जिससे मुल्कमें अमन क़ायम रहे।"

ऐलान मुनासिब था। रिआयाके रवैयेमें फ़र्क नहीं पड़ा। पर राज-कुमारियोंका मन उससे शान्त न हुआ। उन्होंने अपना राज बिलटते देखा, देशके नगर एकके बाद एक सर होते देखे, वतनपर विदेशी हुकूमत क़ायम होते देखी, अपनी बुआ और सहेलियोंको चिता चढ़ते देखा, पिताको आजादीके लिए तलवारकी भेंट चढ़ते देखा। उनके सभी कोमल धागे टूट गये थे, सभी नाते छिन्न-भिन्न हो गये थे।

मुहम्मद सुकुमार था, सुन्दर और वीर। मुल्कको उसने बरबाद भी नहीं किया। पर था तो वतनकी आज़ादीका दुश्मन। कुमारियोंको देशके शत्रुओंसे बदला लेना था और उन शत्रुओंका प्रतीक था मुहम्मद। कुमा-रियोंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया।

उन्होंने अपने दूत दमिश्क भेजे और उनके देशसे बाहर जाते ही अपनेको पकड़वा दिया। बग़ावतकी साज़िश करती वे पकड़ ली गईं और क़िलेके भीतर क़ैद कर दी गईं।

दूत दूर दश्मिक पहुँचे खलीफ़ाके दरबारमें, मंज़िलपर मंज़िल मारते। खलीफ़ासे उन्होंने कहा—हम राजा दाहिरकी कन्याओंकी ओरसे आये हैं। उन्हें इब्न कासिमने अपने हरममें डाल लिया है, और उनके हज़ार कहनेपर भी दमिश्कके हुज़ूरमें भेजनेको तैय्यार नहीं।

खलीफ़ाको नाचीज़ मुहम्मदकी जुर्रत देख बड़ा ग़ुस्सा आया। उसने

अपने दूत सिन्ध भेजे, इस हुक्मके साथ कि हाकिम चमड़ेमें सीकर दमिश्क भेज दिया जाय। दूत सिन्ध पहुँचे। अरब सेनापतियोंको इकट्ठा कर उन्होंने खलीफ़ाका हुक्म उन्हें पढ़ सुनाया। खौफ़ और दर्दकी लहर उनके जिस्ममें दौड़ गई पर जो हुक्म आया था उसका कोई इलाज नहीं था, उसे बजा लाना ही फ़र्ज़ था।

मुहम्मद भरी जवानीमें चमड़ेके खोलमें घुसा। खोल सी दिया गया। फिर दाहिरकी बेटियोंके साथ सिला हुआ चमड़ेका वह खोल दमिश्क पहुँचा और दिनों बाद जब वह वहाँ खोला गया तब घुटता दम सहसा टूट गया। सिन्धी तरुणियोंने वह हत्या देखी जो उन्हींकी साज़िशका नतीजा था। पर उन्हें अफ़सोस न हुआ। उन्होंने मुल्कको सर होते देखा था, पिताको बलिदान होते, बुआको जवानीमें हज़ारों रूपवती और कच्ची उम्रकी कन्याओंके साथ चिता चढ़ते। उनकी तौलमें दुश्मनकी सारी सजाएँ हलकी थीं।

× × ×

और अब उनकी क़ुरबानीकी बारी थी। उनका सतीत्व बेदाग़ बचा था। पर अब उसका बच रहना मुश्किल था। उन्होंने तब खलीफ़ाको कहलाया कि मुहम्मदपर उनका इलज़ाम झूठा था, मुहम्मद बेगुनाह था, गो उनके बदलेका सही हक़दार था।

खलीफ़ा गुस्सेसे जल उठा। इन्साफ़की कोई सज़ा इस क़सूरके लिए उसने काफ़ी नहीं समझी। तब उसने बदलेका सहारा लिया। हुक्म दिया कि उन सिन्धी लड़कियोंको घोड़ोंकी पूँछसे बाँध दिया जाय और सवार उनपर बैठकर दमिश्ककी सड़कोंपर सरपट भागें।

दमिश्ककी सड़कोंपर जब घोड़ोंपर बैठ सवार भागे तब उनकी पूँछसे दाहिरकी बेटियाँ बँधी थीं। खिलाफ़तकी राजधानी बड़ी थी। लोग बेशुमार उन सड़कोंपर खड़े थे। उन्होंने सुकुमार कमनीय तरुणियोंके बदलेका क़िस्सा सुना था, अब उनके कुचले रौंदे शरीरको टूटते-बिखरते देखा।

जब नारीके उत्कर्षका पहला सितारा डूब गया !

एशिया और अफ्रीकाके इतिहासमें तेरहवीं सदी बड़े मार्केकी है। उसने दो विशेष उपेक्षित वर्गों—गुलाम और नारी—को अपने निम्न आधारसे उठते और शक्तिके शिखरपर चढ़ते देखा। सर्वत्र गुलाम विजयी हुए—मिस्रमें, मध्य एशियामें, हिन्दुस्तानमें। गुलाम बादशाहत गुलामकी सफलताका सबूत है, क्योंकि वह अपनी ताक़त और लियाक़तसे ऊँचा चढ़ता है। सुलतानके अभिजात बेटेका लायक़ हो जाना असाधारण घटना है, गुलामका उत्कर्ष केवल गुणोंकी विजय है।

और इसी प्रकार नारीका उत्कर्ष भी गुणोंकी सफलताका सबूत है, पक्षपातका नहीं; क्योंकि जिस प्रकार गुलामोंका स्वाभाविक स्तर नीचे है, नारीका भी प्रकृत स्थान नीचे ही इतिहासमें रहा है। सबने उसे दबाया है, उठाया उसे केवल उसके अपने गुणोंने है। जिस प्रकार तेरहवीं सदीमें गुलामोंमें एक अनोखी स्फूर्ति आई जिसने उन्हें सल्तनतोंकी मूर्धापर जा बैठाया, उसी प्रकार नारीने भी—और अधिकतर ऐसी स्वयं गुलाम या गुलाम खानदानकी थीं—अपने बन्धन तोड़कर ऊपर उठनेका प्रयत्न किया।

इनमें एक तो मिस्रके मामलुक तुर्कोंकी लड़की थी, खुद गुलाम, जिसने अपनी दिलेरी और अक़्लसे, अपने अधिकारसे उस प्राचीन देशकी सल्तनतकी रास हाथोंमें ली थी। इतिहासप्रसिद्ध सुलतान सलादीनके पोतेकी वह पत्नी थी जिसका नाम—शजरुद्दूर—इतिहासमें अमर हो गया है। उसने क्रूसेडों (जुरूसलम लेनेके लिए ईसाई राष्ट्रोंकी पश्चिमी एशियामें तुर्कोंसे लड़ाई) में फ्रांसके राजा नवम लुईको हराकर क़ैद कर

लिया था। किस तरह उसने घोड़ेपर चढ़कर सेनाका संचालन किया था, वह रोमाञ्चक इतिहासकी कहानी है। दूसरी महिला-विभूति थी फ़ारस की रानी, उस राज-परिवारकी आखिरी औलाद जिसने शेख़ सादीको अपनी संरक्षा दी थी। जब मंगोलोंकी 'खुदाई चाबुक'से धरा थरथराती थी, जब उनकी धमक सबसे अधिक मध्य एशियाके मैदानोंमें सुन पड़ती थी, ठीक तभी इस ग़जबकी अक़्लमन्द रानीने फ़ारसपर प्रायः चौथाई सदी राज किया था। तीसरी थी रज़िया, ग़ुलाम अल्तमशकी बेटी, हिन्दुस्तान की मलका—तीनोंमें बदक़िस्मत।

क़ुरान और हदीसोंकी हिदायत है कि औरत तख़्तनशीं न हो, आदमी उसे अपना मार्गदर्शक न बनाये। इससे तब, जब कि इस्लामका सारे एशियापर बोलबाला था, नारीका सामने या तख़्तपर आना ग़ुलामकी ही तरह ताक़त और अक़्लका सबूत था। रज़ियामें अपने समकालीन अभिजात या ग़ुलाम मर्दसे कम अक़्ल न थी।

उसका बाप अल्तमश तो उसके सारे भाइयोंको नालायक़ और फ़कत उसे क़ाबिल मानता था। जब उसने अपने सरदारोंके सामने अपनी वसी-यत रखी, अपने उत्तराधिकारकी घोषणा की तब मर्दोंपर एक सदमा छा गया, क्योंकि उसने अपनी सल्तनतका वारिस रज़ियाको बनाया था। मर्दोंके नाक-भौं सिकोड़नेपर उसने कहा—"मेरे बेटे जवानीके लुत्फ़ उठा रहे हैं। उनमें कोई सल्तनतका काम अंजाम देने लायक़ नहीं। बस रज़िया ही वह भार उठा सकती है।"

रज़ियाने उठाया वह भार। अल्तमश उसे नज़ीरुद्दीन कहकर पुकारता था। रज़िया अपने भाइयोंके निकम्मे साबित हो जानेके बाद दिल्लीके तख़्तपर बैठी। भाइयोंके निकम्मेपनने बापकी आधी बात सच्ची कर दी। आगे अब उसकी उम्मीदोंका इम्तहान था।

दिल्लीके तख़्तपर अभी तक औरत न बैठी थी। रज़िया पहली औरत थी जिसने राजदण्ड धारण किया। उसने मर्दका लिबास पहना, अपनेको

'रज़िया सुलतान' कहा, मुँह खोले वह दरबारमें बैठी, मर्दकी तरह हाथी पर चढ़ उसने सेनाका संचालन किया। जमाना हैरतमें था। कोई काम नहीं जिसे वह अंजाम न दे सके, कोई इंसाफ़ नहीं जिसे वह न कर सके।

पर क़ुरान और हदीसोंके क़लाम क्या काफ़ी न थे ? लोहेको लोहेने काटा। खुद .ग़ुलाम उसके दुश्मन हो गये, .ग़ुलाम मर्द। अल्तमश और उसका पूर्ववर्ती सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक दोनों पहले .ग़ुलाम रहे, अल्तमशने चालीस शक्तिमान .ग़ुलामोंका संगठन कर लिया था। इस संगठनका नाम ही 'चालीस' पड़ गया था। देशकी सारी शासन-शक्ति, सारी दौलत सिमटकर इनके ही हाथमें चली आई थी। अल्तमशके मरनेके बादकी अराजकतामें, उसके बेटोंकी बुज़दिली और कमअक़्लीके समय तो इनकी शक्ति और भी बढ़ गई थी। रज़िया जब गद्दीपर बैठी तब सभी तरहसे 'चालीस' सल्तनतके मालिक थे।

रज़ियाने हुकूमत बड़ी क़ाबलियतसे शुरू की। उसकी हिम्मत देख बड़े-बड़ोंके छक्के छूट जाते। इंसाफ़ उसका इकता था। दीनकी वह लामिसाल सेविका थी। दुर्गुण उसमें बस एक था, जो उसके हाथकी बात न थी—वह औरत थी। औरतकी हुकूमत किसीको पसन्द न थी, न हिन्दूको न मुसलमानको, न अभिजातको न .ग़ुलामको। सभीने इस बातका एक स्वरसे विरोध किया।

रज़िया हुकूमतपर डटी रही। उसने विशेष नीतिसे काम लेना चाहा, पर वही उसके नाशका कारण बन गई। चालीसों .ग़ुलामोंमें एक अबीसीनियाका हब्शी था—याकूत। उसपर रज़ियाकी विशेष नज़र हो गई। उसकी सलाहसे उसने हुकूमत करनी शुरू की। पता नहीं उसका उससे कैसा सम्बन्ध था ! सम्बन्ध चाहे जैसा भी रहा हो, वह बाक़ी .ग़ुलामोंको सह्य न हो सका। वे बग़ावत कर बैठे।

रज़ियाने पहले तो उनका सामना किया। तलवार लेकर वह मैदानमें

उतर पड़ी। लोहेसे लोहा बजा। पर जीत दुश्मनोंकी हुई। अल्तुनियाँने उसे क़ैद कर लिया।

पर रज़िया दम रहते हिम्मत हारनेवाली औरत न थी। जब ताक़त बेकार हो गई तब उसने नीतिसे काम लिया। उसने अपने विजयीको अपनी निगाहोंका क़ैदी बना लिया। अल्तुनियाँने प्रेमीके रूपमें उसके आगे घुटने टेक दिये, तलवार रख दी। रज़िया फिर दिल्लीपर चढ़ चली, अपने शौहर अल्तुनियाँके साथ।

पर अब तक उसका भाई बहराम सरदारोंकी मददसे तख़्तपर बैठ चुका था। तख़्तपर बैठ जाना अनेक मुश्किलें आसान कर लेना है। ताक़तसे, रुपयेसे, रुतबेसे लोग जीते जा सकते हैं। रज़ियाको हारकर अल्तुनियाँके साथ जंगलकी राह लेनी पड़ी और वहीं पकड़कर दुश्मनोंने दोनोंको मार डाला। नारीके उत्कर्षका पहला सितारा डूब गया!

ग़ज़बकी अक़्ल पाई है तुमने, बीरबल !

बंगालने बगावत की थी। बराबर करता रहा था। अकबर उसे दबा-कर पटनेकी राह लौटा। इलाहाबादमें अगला पड़ाव पड़ा। क्वारका महीना था, शरद्की पूनो थी, दूधकी धोयी रात। बादशाह गंगा-जमुनाके संगमपर आ खड़ा हुआ। पहली बार वह संगम आया था। उसकी महिमा उसने सुनी हज़ार ज़बानोंसे थी, पर देखा उसे एक बार भी न था।

घोड़े, हाथी, पालकी और सुखपाल जमुनाके किनारे दूर तक फैले खड़े थे। शाही सन्तरी कतारोंमें खड़े बादशाहकी हिफ़ाज़तमें तत्पर थे। राजे-महाराजे, अमीर-मुसाहिब, सूबेदार-सरदार साथ थे। सबको लगा, बादशाह संगमकी ख़ूबसूरतीसे मोह गया है। सही मोह गया था बादशाह। पर चुप था—वह ऐसा, जैसा ऐसे मौक़ोंपर वह कभी नहीं रहा करता था।

'जहाँपनाह', बैरमके बेटे कवि रहीम ख़ानख़ानाने कहा, 'रात सँवरकर उतरी है। चाँद नीले समन्दरमें तैरता जा रहा है....।' बादशाहने हल्केसे हाथ उठाकर उसे चुप कर दिया, कुछ गम्भीर आवाज़में बोला भी, 'ठहरो, शायर।'

शायर चुप हो रहा। मुसाहिब कुछ हिले, पीछे हटे। जाना, संगमकी ख़ूबसूरतीसे दूर कहीं बादशाहकी नज़र भटक गई है। आवाज़ें रुक गईं। ख़ामोशी गहरी हो गई। आँखें मिलतीं, जैसे मतलब भरी बातें कहतीं, नीचे झुक जातीं, दूर संगम पार क्षितिजपर जा लगतीं।

और बादशाह चुप था। सहसा वह हिला, अमीरोंकी भीड़ भी हिली, लोग पीछे सरके।

'नादिर !' बादशाहने कन्धेपर सिर ज़रा मोड़ धीरेसे पुकारा ।

'आलमगीर, बन्दा हाज़िर है', जागीरोंके हाकिमने झुककर सलाम किया ।

'आस-पासकी मिल्कियतकी देखभाल कौन करता है ?'

'झूँसीका राजा, जहाँपनाह, शिवबरनसिंह ।' नादिर फिर झुका ।

'कहाँ है, झूँसी ? राजा क्या है यहाँ ?'

'झूँसी सामने है, जहाँपनाह, गंगा पार ।'

नादिरने तभी पीछे हटकर मजीद ईरानीकी ओर देखा जो बादशाहके हुज़ूरमें पहलेसे ही झुका हुआ कुछ कहना चाहता था ।

वह बोला, 'दरबारका हुक्म था, आलीजाह, कि यहाँ पहुँच और पड़ावकी ख़बर किसीको न हो । इसीसे राहके राजे इस्तक़बालमें हाज़िर न हो सके ।'

'झूँसीके राजाको ख़बर करो, सूरज निकलनेसे पहले रूबरू हो ।'

'जो हुक्म, जहाँपनाह ।'

बादशाह पड़ावको लौट पड़ा । उसने मुद्रा बदल दी । मुसकुराता, बात करता सुखपालमें जा बैठा ।

झूँसीका राजा पैग़ाम पा घबड़ा उठा । दूतसे हज़ार पूछनेपर भी पता न चला कि बादशाह सलामतने कैसे तलब किया । उससे बस इतनी जानकारी हुई कि बादशाह संगम गया था । वहाँसे उसने झूँसी देखी । उसका चेहरा गम्भीर हो गया । ख़ानख़ानाने जो मौक़ेसे मोहकर कुछ कहना चाहा तो उसे चुप कर दिया, फिर राजाकी तलबीका हुक्म दे पड़ाव लौट आया ।

राजाका दिल बैठा जा रहा था। बीरबलको बुलानेके लिए वह हरकारे पर हरकारा भेज रहा था, पर उसके कानों जूँ नहीं रेंगती थी । बेटीके साथ वह शतरंज खेल रहा था, हिला तक नहीं । हरकारेने जो क़िस्सा बयान कर राजाकी घबड़ाहटका हाल कहा तो बीरबल यह कहकर फिर

खेलमें मशग़ूल हो गया कि 'राजा साहबसे कह दो, हुज़ूरकी सेवामें चले जायँ और जब जायँ तब कुछ नावोंपर ईंट-चूना साथ लेलें।'

राजा बीरबलका मिज़ाज जानता था, चुप हो रहा। उसकी सलाहपर उसे भरोसा था। उसने साथ ईंट-चूनेसे भरी नावें लीं और बादशाह सलामतके सामने आ खड़ा हुआ। दहशतके मारे उसका बुरा हाल था। होंठ सूखे जा रहे थे, रोयाँ-रोयाँ काँप रहा था।

उधर बादशाहकी पेशानीपर बल पड़े थे। जो कुछ उसने देखा वह उसे हैरतमें डाल रहा था। अभी सूरज निकला नहीं था, जब इने-गिने मुसाहिबोंके साथ संगमपर पिछली रातकी जगह आ खड़ा हुआ था। अभी कुछ ही मिनट उसे आये हुए थे कि उसने धुँधलकेमें मालभरी नावें गंगामें झूँसीकी ओरसे अपनी ओर आती देखीं।

बादशाहकी नज़र उधर थी ज़रूर, पर वास्तवमें वह उन्हें देख नहीं रहा था। कुछ ही देरमें नावें वहाँ आ पहुँचीं जहाँ बादशाह खड़ा था। नावोंके आगे सुन्दर बजरेपर राजा सवार था। उसने बादशाहको न देखा, पर नादिर उसका पहचाना था। उसके आदमी सिपाहियोंसे शाही पड़ाव पूछ रहे थे कि नादिर उसे पहचान उसकी ओर बढ़ा और उसे लाकर बादशाहके सामने खड़ा कर दिया। नावें धीरे-धीरे तटसे आ लगीं। बादशाह कबका उनका ईंट-चूना देख चुका था। अब हैरानी उसे थी।

'यह ईंट-चूना क्यों, राजा ?' बादशाहने राजाके मुजरेके जवाबमें पूछा।

'बादशाह सलामत, ग़ुलाम बेगुनाह है', लड़खड़ाती जबानमें राजा बोला। उसकी कलँगी ज़मीन चूम रही थी।

'बादशाहने जाना, उसका सवाल उसके भीतरी विचारोंका सिलसिला था, जो भला ग़रीब राजा क्योंकर जान पाता। उसने झट आश्वासन देते हुए राजासे कहा, 'नहीं, नहीं, गुनाहका क्या सवाल है, भला ? पर मैं पूछ रहा हूँ कि ये नावें क्यों ? इनके ईंट-चूनेसे क्या मतलब ?'

अब राजाकी जानमें जान आई। वह आश्वस्त हो गया, पर उसने समझा कि बीरबलकी सलाह फिर भी आड़े आई। झट आत्मरक्षामें उसके मुँहसे निकल पड़ा—'बन्दापनाह, क़ुसूर मेरा नहीं, बीरबलका है।'

राजा सम्हल गया था, पर उसे लगा, अभी खैर नहीं, मामला तूल पकड़ चुका है। बादशाह उसकी घबड़ाहटसे फिर नरम पड़ गया। मुसकराहट दबाई और पूछा—'कौन है यह बीरबल ?'

'बीरबल, बन्दापनाह, गुलामका सलाहकार है, दीवान', राजा बोला।

'हाज़िर करो उसे, अकेले।'

'दो घण्टेके पेश्तर, बादशाह सलामत', कहकर जब राजा चला तब उसकी सही साँस लौटी। कुछ खुश भी था कि मुसीबत अब बीरबलके सिर गई। देखें कैसे पनाह पाते हैं। रातसे ही बुलवाता रहा हूँ, ज़रा परवाह नहीं की।

बीरबल जब बादशाहके पास जानेके लिए नावपर बैठा तब उसके चेहरेपर मुसकराहट खेल रही थी। राजा दंग था। उसने वहाँ हवाइयाँ देखनी चाही थीं। नावके दूर चले जाने तक वह आँखें फाड़-फाड़ देखता रहा, फिर धीरे-धीरे हवेलीमें दाखिल हुआ।

'जहाँपनाह, जो बादशाह सलामतके इक़बालसे वाकिफ़ है, उसे समझते ज़रा देर नहीं लगी कि संगमपर खड़े होकर उनके मनमें कैसे ख़याल उठेंगे। मुझे लगा, आलमगीर यहीं क़िला बनवाना चाहेंगे, नज़रके नामपर ईंट-चूना भिजवा दिया।' बीरबलने बादशाहके सवालके जवाबमें कहा।

'ग़ज़बकी अक़्ल पाई है तुमने, बीरबल! आजसे तुम्हारा ख़िताब 'राजा' हुआ और तुम आगरेके दरबारके 'रतन' हुए। शाम तक शाही पड़ावपर आ जाओ। साथ चलना होगा।' बादशाहने मुसकराते हुए कहा।

'बजा इरशाद, जहाँपनाह', कह बीरबलने फ़र्शी सलाम किया और शाही ख़ेमेसे बाहर हो गया।

पड़ावमें पल भरमें चारों ओर खबर घूम गई। मुसाहिब नये रतनकी अक़्लकी बात सुन हैरतमें आ गये। राजाने जो बीरबलको हाथी-घोड़ोंके साथ लौटते देखा तो दंग रह गया। पर उसके मनमें ईर्ष्या न थी अफ़सोस था, कि उसके बचावका ज़रिया, उसका कवच, अब उसके पास न रहा।

कुछ ही दिनोंमें गंगा-जमुनाके संगमपर इलाहाबादका क़िला बनकर खड़ा हो गया।

अम्बरनरेशका पुरस्कार

मानसिंह मुग़ल सल्तनतकी तलवार माना जाता था। उस सल्तनतमें उससे बढ़कर लड़ाका न था। दक्खिनसे फ़रग़ना तक उसका बोलबाला था। काबुलकी घाटीकी गहराइयोंसे हिन्दूकुशकी चोटी तक उसका जस छाया हुआ था।

बंगालको ख़ुद बादशाहने एक बार सर किया था, पर उसके बाग़ी सरदार ग़ायब हो गये थे। जब शाही कुमक उधर जाती, वे सुन्दरबनमें जा छिपते, फिर निकलकर उड़ीसा, बंगाल, बिहारपर हावी हो जाते, लूट-मार करने लगते, शाही लश्कर बेदीन हो जाते, शाहंशाहकी हुकूमत उस ज़मीनसे उठ जाती। एकसे एक सूरमा बंगाल भेजे गये, पर साबुत कोई नहीं लौटा, जो लौटा भी तो पिट कर। बादशाह परेशान था। उसकी चिन्ता मानसिंहने समझी। उसने बंगाल सर करनेका बीड़ा उठाया। अपने राठौरोंको ले वह गौड़ जा पहुँचा।

महीनों बाद जब वह आगरे लौटा तब ख़ुद अकबर उसके स्वागतके लिए शहरपनाहके फाटक तक आया। उसने राजाको गले लगा लिया। मुसाहब आह भरने लगे।

बंगाल पूरी तरह सर हो चुका था। उसके सारे बाग़ी आगरेमें काठमें ठुक चले थे। उधरसे कोई अन्देशा नहीं था और अब अकबर चैनकी नींद सो सकता था।

पर अब वह एक दूसरी धुनमें था। मानसिंहको क्या बख़्शा जाय? उसका काम कुछ मामूली न था। बंगाल दक्खिन न था, मालवा न था, गुजरात न था, क़ाबुल भी न था। उसे सर करना कुछ आसान न था। उसकी मुश्किलोंका ख़ासा तजुरबा ख़ुद शाहंशाहको था, और उसे हो रहा

था, कि मानसिंहको कुछ क्या देकर निहाल हो जाय । पर बादशाह उसे हाथी-घोड़े, दास-दासी, रतन-इलाक़े नहीं देना चाहता था । अम्बरनरेशके पास हाथी-घोड़े, दास-दासी, रतन-इलाक़ोंकी कमी न थी । इन्हें देकर अकबरका मन अब भरनेका नहीं ।

उसने दरबारे ख़ास बुलाया । नौ रतन बैठे । उसने अपने मनकी बात कही । पर वे कोई बख़्शीश उसे सुझा नहीं सके । उन्होंने उन्हींके नाम लिए—हाथी-घोड़ोंके, दास-दासियोंके, रतन-इलाक़ोंके । अकबरने सिर हिला दिया । ज़ाहिर था कि वह इनसे ऊब चुका था । झल्लाहट और लाचारी उसके चेहरेपर झलक उठी । उसने एक ठंडी साँस ली ।

फिर जैसे कुछ याद आ गया । उसने बीरबलपर नज़र डाली । नज़रें मिल गईं । बीरबल चुपचाप कुछ मुसकराता-सा बादशाहकी ओर देख रहा था ।

'राजा, तुम चुप कैसे हो, यह जानकर कि मैं तुम्हारी अक़्लका क़ायल हूँ ? तुम्हीं मेरी मुश्किल आसान कर सकते हो, बोलो ।' बादशाहने जैसे बेबसीमें कहा ।

राजा बीरबल बोला, 'जहाँपनाह, अम्बरनरेशका नाम है 'मानसिंह ।' उन्हें बीर मानसिंह कहें, जीते हुए बंगालको तीन हिस्सोंमें बाँट दें, हर एकका नाम उनके नामके टुकड़ोंपर रख दें । उनका नाम आजसे 'वीरभूमि', 'मानभूमि', सिंहभूमि हो ।'

नौरतन दंग थे । बादशाह मोह गया । गद्गद था । चेहरेका रोयाँ-रोयाँ पुलक उठा था ।

बोला—'बीरबल, आजसे बंगालके तीन हिस्सोंके नाम वीरभूमि, मानभूमि, सिंहभूमि हुए । उनको ये नाम देकर तो सचमुच मैं निहाल हो गया । समझा कि अम्बरनरेशको मैंने पुरस्कृत कर दिया, पर इस सुझावके लिए तुम्हें क्या दूँ, यह कभी न जान पाऊँगा । कंगाल हूँ !'

शाहंशाहने सिर झुका दिया ।

जब सिकन्दरने राह चुराई !

गौगामेलाका फैला मैदान । बालूके ऊँचे टीले जिनके सायेमें गजराज दम ले ले, मगर रेत ऐसी कि समुन्दरकी लम्बाई-चौड़ाईको लजा दे । रेतके पहाड़ जो आज यहाँ, कल वहाँ, पीली आँधीके डैनोंपर सवार ।

उसी गौगामेलाके मैदानमें दाराकी सेनाएँ पड़ाव डाले पड़ी थीं । दारा यह तीसरा था, उस महान् दारा (दारायवौष्) के खानदानका, जिसका जस चीनसे यूनान तक गाया जाता था । कुरूष् उस कुलका पहला यशस्वी सम्राट् था जिसने हिन्दुस्तानकी सरहद गन्धार तकको जीता, उधर पश्चिममें भूमध्यसागर तक । तीन पीढ़ी बाद दारा आया जिसने पंजाबपर क़ब्ज़ा किया, जिसकी बाख़्त्रीकी दूनमें जायफ़ान फूलता था, आमू दरियाके किनारे, जिसके बेटे क्षयार्षाने यूनानपर हमला कर यूनानी इतिहासमें माराथानकी घटना अमर की, जो शकोंकी खोजमें दानूब नदीकी राह दखिनी रूस तक जा पहुँचा, जिसने अपनी विजयोंकी प्रशस्ति नख़्शएँ रुस्तम और बेहिस्तूनकी शिलाओंपर खुदवाई, जिसने अपनेको 'आर्योंमें आर्य', 'क्षत्रियोंमें क्षत्रिय' कहा । उसीके बेटे क्षयार्षाने यूनान जीतकर एथेन्सको जला डाला । उसकी ओरसे भारतीय युद्धजीवी भी लड़े थे, खादी पहने, लोहेके फलोंवाले लम्बे तीर लिये; और फिर यह दारा हुआ, दारा तीसरा ।

साम्राज्यकी चूलें हिल गईं थीं, पर साम्राज्य आखिर अभी खड़ा था—हिन्दूकुश-बदख़्शाँसे सीरिया तक, मिस्र-अबीसीनियासे रूस तक । दूर-निकटके सूबोंपर ईरानी सूबेदार (क्षत्रप) शासन करते थे और सूबोंका सोना पार्सपुर (ईरानकी राजधानी पर्सिपोलिस) में धारासार बरसता

था। सिकन्दरको यूनानके पुराने अपमानका बदला लेना था, दाराकी चढ़ाईका, उसके बेटे क्षयार्षके विध्वंसका। सदियोंसे यूनानी इतिहासकार यूनानियोंके पुरातन अपमानका ईरानियोंसे बदला लेनेको भड़का रहे थे—हेरोदोतस, दिमोस्थेनीज़, पेरिक्लीज़। पर ईरानियोंकी तलवारें मज़बूत मुट्ठियोंमें थीं, यूनानी अरमान जहाँके तहाँ रह गये। फिर एक दिन मकदूनियाके फ़िलिपके लाड़ले सिकन्दरमें दिग्विजयकी लौ लगी, उस पुराने अपमानके बदलेकी बिसरी याद दार्शनिक गुरु अरस्तूने उसे पढ़ाते समय बार-बार दिलाई थी। सिकन्दरको याद दिलानेकी ज़रूरत न थी वह क़ौमी बेइज़्ज़ती थी। वह मकदूनियाके महलोंमें खड़ा हुआ उस रातके दूसरे दिन, जिसके जशनमें हत्यारेने उसके बापको छूरा भोंक दिया था, और दोस्तोंको ख़ज़ाना लुटाता हुआ बोला—'लो, लो यह सोना !'

दोस्तोंने पूछा—'सिकन्दर, सब दे डाला, आख़िर अपने लिए क्या रख रहे हो ?'

सिकन्दर बोला—'उम्मीदें !'

उन्हीं उम्मीदोंको लिये वह मकदूनियाके पहाड़ोंसे निकला और यूनान-को फिर सर करता, एशिया माइनर-फ़िलस्तीनको रौंदता मिस्र जा पहुँचा। दाराके क्षत्रपोंकी हारकी ख़बरें ईरानी राजधानीमें पहुँच चुकी थीं पर दखिन बढ़ते सिकन्दरके घोड़ोंकी बाग किसीने न रोकी। सिकन्दर मिस्र लेता उत्तर लौटा और गौगामेलाके मैदानमें जा उतरा—उस मैदानमें जहाँ दूर तक सुनहरे ख़ेमे खड़े थे, रानियों-रखेलियोंके ख़ेमे, उमरा-सर-दारोंके। दाराकी सेना क्या थी शहर था, शहरका कोई ऐसा ऐश नहीं जो उन ख़ेमोंमें मुहैया न हो। पर उस दारा और इस दारामें फ़र्क था, ज़मीन-आसमानका फ़र्क।

दाराकी बेशुमार फ़ौजें दूर तक फैली पड़ी थीं, उस गौगामेलाके बियाबाँमें जहाँ वसन्त तब जवानीपर था। सूरजकी आँख कबकी बन्द हो चुकी थी—शामका झुटपुटा रातकी गहराईमें डूब चुका था। ईरानी

दस्तरख़ान दमक रहे थे, साक़ी शराबके जाम भरते जा रहे थे, मीनाओं-की कतारें खाली होते ही भर जाती थीं, नर्तकियाँ नाच रही थीं।

सिकन्दर अपनी सेना लिये पहुँचा ही था कि उससे पहले पहुँचे सर-दार पर्दिकस्ने कहा, 'सिकन्दर, बस हमला कर दो, पौ बारह है, वरना सुबहका उजाला होते ही दाराकी बेशुमार फ़ौज़ देख अपनी सेनाको काठ मार जायेगा।'

सिकन्दर हँसा, बोला, 'पर्दिकस्, सिकन्दर जीत चुराता नहीं लड़कर लेता है!'

पर्दिकस् लजाकर चला गया। सुबह हुई, कुछ ही ठोकरोंसे सिकन्दरने दाराके साम्राज्यको गिरा दिया। महान् साम्राज्य चरमराकर जो गिरा तो अपने ही मलबेमें समा गया। सिकन्दरने जीत चुराई नहीं। शिल्पी आया, बोला, 'महान् है तू, सिकन्दर। ला तेरी मूरत गढ़ दूँ—एक पैर एक पहाड़की चोटीपर, दूसरा दूसरे पहाड़की चोटीपर, एक हाथसे दूसरे हाथकी मुट्ठीमें समुन्दर उँडेलती मूरत।'

रातमें सिकन्दरने भी जशन मनाया। पर्सिपोलिसके महलोंके सायेमें। शराबका दौर चल रहा था। सभी सरदार पी रहे थे। सिकन्दर भी अपने आपेमें न था। सैनिकोंके हाथकी सैकड़ों मशालें रातको दिन बनाये हुए थीं। पर उन मशालोंका तेज अन्तियोककी प्रसिद्ध वेश्या तायाकी रूप-जोतसे मलिन पड़ रहा था। ताया विश्वविख्यात गणिका थी। प्राचीन जगत् उसका दीवाना था। प्राचीन गायकोंने अपने गीतोंमें उसका रूप अमर कर दिया था। ताया उस विश्वविजयी सिकन्दरकी रखैल थी।

शराबका नशा जब सरदारोंपर असर कर चला, उनके पैर लड़-खड़ाने लगे, तभी एकाएक ताया उठी। बोली, 'विश्वविजयी, तुमसे पहले भी इस धरापर विजेता हुए हैं, पर उनके साथ ताया न थी। आज ताया कुछ करेगी। कहानी रह जायगी कि सिकन्दरके साथ एक नारी थी जिसने वह किया जो कभी कोई नहीं कर सका।' फिर पासके सैनिकके हाथसे

मशाल छीन वह उन महलोंमें घुसी जिनमें कुरूप और कम्बुजीय, दारा और क्षयार्षके इकबाल, जीत और लूटसे आई दौलत—बाख्त्री-बदख्शांकी, गान्धार-पञ्चनदकी, खुरासान-अज़रबैजानकी, बाबुल-निनवेकी, दमिश्क-जुरूसलमकी, तीर-सोदोमकी, एथेन्स-मेम्फिस्की—गँजी पड़ी थी। महलके सुनहरे कँगूरोंके साथ वह भी जलकर खाक हो गई। संगमरमरके खम्भे मस्तकहीन खड़े थे। संगमूसाके आबसे चमकनेवाले साँड़ चुप थे, दारा महान्की प्रशस्ति बेज़बान हो गई। यह एथेन्सके विध्वंसका बदला था।

झेलमके उस पार हिन्दका बाँका लड़ाका पर अदना ज़मींदार राजा पुरु सिकन्दरकी राह रोके खड़ा था। कुछ पैदल कुछ घुड़सवार सेना थी, उसके पास, हज़ार रथ थे, १३० हाथी। उधर यूरोप, अफ्रीका और एशियाके चुने वीर और उनसे बढ़कर यूनान-मकदूनियाके वे रिसाले जिन्होंने लड़ाईके हुनरमें अपना साका चलाया था। पर करींके मैदानमें सिकन्दरने जो पंजाबी मर्दानगीकी फ़ौलादी दीवार खड़ी देखी तो उसके देवता कूच कर चले। मुँहसे निकल ही तो पड़ा, 'आखिर वह खतरा आज सामने है जो मेरे साहसको ललकार रहा है। पाला आज एक साथ ही बनैले जन्तुओंसे पड़ा है, लामिसाल जवाँमर्दोंसे !'

यह तो तबकी बात है जब सिकन्दर झेलम पार कर गया था। पर बुनियादी कहानी तो उस पारकी है जब कि दजला-फ़रातकी धाराओंने जिसकी राह न रोकी, हिन्दूकुशका हिममण्डित गौरवान्वित मस्तक जिसके चरणोंमें झुक गया, सिन्धुके प्रखर प्रवाहके सामने जिसके घोड़ोंकी बाग न रुकी, वही सिकन्दर झेलमके तटपर बेबस हो गया, लाचार बेरौनक।

तक्षशिलासे सिकन्दरने पुरुके पास सन्देश भेजा था—'आत्मसमर्पण कर दो, आकर मिलो।' राजाने उत्तरमें कहला दिया था—'निश्चय मिलूँगा, पर सेनाके साथ वितस्ता (झेलम) के तटपर !' और अब वह वितस्ताके तटपर उसकी राह रोके खड़ा था।

बरसातके दिन थे। नदी उमड़ी आ रही थी, कूल उसे सम्हाल नहीं

पा रहे थे। उसे रिसालेके साथ पार करना कुछ ठट्ठा नहीं था जब बाँका लड़ाका पुरु मौत और सिकन्दर दोनोंको ललकार रहा था। दिनों पैंतरेबाजी होती रही, राह न मिली। सप्ताह बीते, पर मौका हाथ न आया। सिकन्दर रातके अन्धेरेमें नदीके उतार-चढ़ावकी ओर फिरा करता कि कहीं अवसर मिले और वह झेलम डाक जाय।

जब मर्दानगी चुकी तब उसने राह चुरानेपर कमर कसी, और एक रात उसे अवसर मिल ही गया, राह भी मिल गई। सोलह मील चढ़ावपर ओहिन्दके पास नदी टेढ़ी हो गई थी। वहाँ जंगलोंसे ढका नदीके बीच एक टापू भी था। अब मौका चाहिए था। भादोंकी रातमें भला उसके मिलनेमें क्या देर?

भयानक अँधेरा, सुईसे छिद जाय, ऐसा घना अँधेरा कि अपना हाथ भी न सूझे। मूसलाधार मेह बरस रहा था। काला आसमान धुआँधार ज़मीनपर गिरा आ रहा था। सिकन्दर ११,००० चुने हुए सवारोंके साथ चुपचाप निकल पड़ा पड़ावसे। पड़ावमें क्रातरस् अपनी फ़ौजके साथ जशन करता रहा जिससे नदी पारका दुश्मन धोखेमें रहे, जाने कि यूनानी बरसात तक वहीं ठहरना चाहते हैं। क्रातेरस् और सिकन्दरके बीच मिलीगर अपनी सेना लिये विश्वविजयीके इन्तज़ारमें बैठा।

और विश्वविजयी रातके अँधेरेमें ओहिन्दके टापूके जंगलोंके सहारे, बरसते मेंह और अँधेरेके सहारे, उस पार उतर गया। इतिहासकार एरियनने लिख दिया—'सिकन्दरने राह चुराई!' और सिकन्दर जब-जब सोता, रात साँय-साँय करने लगती, तब-तब गौगामेलाकी उसीकी आवाज़ उसके कानोंमें व्यंग करती फुसफुसा उठती—'पर्दिकस्, सिकन्दर जीत चुराता नहीं लड़कर लेता है!'

इन्सानियतका पहला दावेदार !

इन्सानियतका वह पहला दावेदार अशोक था। पहली बार उसने नीतिकी पुस्तकोंका आदर्श अपने आचरणमें व्यक्त किया। उनके घातक आदर्शोंको त्याग उसने मानवके उन्नयनके आदर्श खोजे, उनका प्रचार किया।

ज़माना ख़ून-ख़राबेका था। संसारमें राजाओंकी एक ही ताक़त थी, तलवार, एक ही नीति थी, दिग्विजय। सिकन्दरका मनुष्यकी हड्डियोंसे, रक्तके गारेसे, खड़ा किया साम्राज्य टूट कर बिखर रहा था। सीरियाका साम्राज्य अपनी आख़िरी साँसें ले रहा था, ईरानी राष्ट्रीय आन्दोलनने पार्थवोंको स्वतन्त्र कर दिया था, बाख़्त्रीका वक्षुवर्ती प्रान्त बाग़ी हो गया था। चीन जितना उत्तरी ख़ूँख़ार जातियोंकी चोटसे ख़ून उगल रहा था, उतना ही गृह-युद्धोंसे तबाह था। महान् दीवारका वह निर्माता अब उस धरापर उतरने ही वाला था जिसने चीनकी ज़मीन तो रक्तसे रँग ही डाली, उस देशकी सहस्राब्दियों पुरानी पोथियोंको भी आगकी लपटोंमें स्वाहा कर डाला। समस्या तबके संसारमें एकमात्र तलवारसे हल की जाती थी।

पर अशोकने तलवार तर्क कर दी। मानवोंके पारस्परिक सम्बन्धमें उसने मानवीय सिद्धान्तोंका प्रसार किया, क्रोधको क्षमासे जीता, घृणाको प्रेमसे। स्वयं उसने जिस संसारको आरम्भमें पाया था वही रक्तरंजित संसार था, वन्य जन्तुओंके संस्कार जिसकी नीतिके आदर्श थे। अशोक स्वयं अनेक भाइयोंको मार लहूसे लाल गद्दीपर बैठा था। उसकी वाहिनी भी अन्य राजाओंकी भाँति ही 'अनधिगत'के 'अधिगमन'के लिए चली। पिता-पितामहने बहुत कुछ उसके लिए जीतकर रख दिया था।

केवल कलिंग स्वतन्त्र था जो तरुण राजाकी नज़रपर चढ़ कर खटकने लगा। जब उसकी विशाल सेनाने महानदीके काँठेपर हमला किया तब कलिंगके वीर निवासियोंने जमकर उसका मुक़ाबला किया। भयानक नर-संहार हुआ। एक लाख कलिंगके आज़ादीपरस्त सूरमा खेत रहे, डेढ़ लाख क़ैद कर लिये गये। इस संख्यासे कई गुना लड़ाईके सर्वग्रासी बीमारियोंके शिकार हो गये।

अशोकका हृदय इस भयंकर हत्याकाण्डसे घबड़ा उठा। विजयोंकी राजनीतिसे वह विरत हो गया, तथागतका प्रेममार्ग उसके अभियानका पथ बना और यह अभियान ऐसा जैसा अब तक की राजनीतिमें अनजाना था। उसने कहा, अब दिग्विजयके लिए भेरीघोष नहीं होगा। धर्मविजयके लिए धर्मघोष होगा। साम्राज्यमें सभी प्रजा बराबर अधिकारसे प्रेमपूर्वक बसेगी, उसके सुखके लिए राजा वैसे ही प्रयत्नशील होगा जैसे अपने पुत्रों-पौत्रोंके लिए। उसके फैले 'विजित'में सम्प्रदाय घृणारहित प्रेम भावसे परस्पर आचरण करेंगे।

प्रेम और सहिष्णुता भरे उसके उपदेश शिलाओंपर, पत्थरके खम्भोंपर खोदकर युद्धके पुराने मोर्चोंपर, भारतकी सीमाओंपर, भीतरके नगरोंमें, घनी आबादियोंमें भटकते मानवोंके मार्ग-प्रदर्शनके लिए खड़े कर दिये गये। बन्धुत्वके नारे हवामें उठे, चिकित्साने पशु-मानवको व्याधिमुक्त किया।

सदियों ग्रीस और मकदूनियामें ईरानी विजयके बदलेकी आग लोगोंके दिलोंमें सुलगती रही थी। लोग उसी पराजयकी शपथ खाते, बदला लेनेकी प्रतिज्ञा करते, इतिहासकार उन्हें घटनाओंके ज्वलन्त निरूपणसे बदलेके लिए जगाये रखते। सिकन्दर जो वहाँसे आँधीकी तरह उठा तो उसका रोम-रोम बस एक आवाज़से आकुल था, ईरानसे बदलेकी आवाज़से, दारा और क्षयार्षाकी औलादको इस धरासे उखाड़ फेंकनेकी आवाज़से। और उसने दारा-क्षयार्षाकी औलादको गौगामेलाकी लड़ाईमें कुचलकर ग्रीसके

वीरोंके अपमानका बदला लिया। ईरानकी राजधानी पर्सिपोलिसको, उसके रत्नभरे भवनोंको आगकी लपटोंको सौंप एथेन्सके विध्वंसकी याद मिटाई, उसके बुलन्द खम्भोंको ज़मींदोज़ कर दिया।

बदलेकी भावना स्वाभाविक है, सबको होती है, अशोकको भी शायद हुई। पीढ़ियों पहले इसी सिकन्दरने पंजाबकी चप्पा-चप्पा ज़मीनको कुचला था। उस ज़मीनकी रक्षाके लिए आज़ादीके दीवानोंने अनसुनी कुर्बानियाँ की थीं। पुरुने, पिप्रमने, कठोंने, मालवोंने, अग्रश्रेणियोंने, शिबियोंने, ब्राह्मणों-ने। शारदाकी जिह्वा थक जाय उनके नाम गिनते जिन्होंने भारतकी इंच-इंच ज़मीनपर माराथान और थर्मापीलीके मैदान रचे थे। बदलेकी भावना स्वाभाविक थी और उसे रूप देनेमें अशोक चूका नहीं। उसके माध्यमसे भारतने ग्रीकोंसे, उनके पाँचों राज्योंसे प्रभूत बदला लिया। उनकी ज़मीनसे उसने दुश्मनीकी ज़हरीली पौध उखाड़कर उसकी जगह मुहब्बतकी पौध लगाई, भाईचारेका फूल उस पौधेपर मलयानिलमें डोलती उसकी टहनियों-पर झूम उठे। यह बदलेका नया तरीका था, दुनियाका अनजाना—'तू मुझे काँटे बो, मैं तेरी राह फूल बोऊँगा!'

अशोकने पाँचों ग्रीक राज्योंमें—मकदूनियामें, सीरिया (अन्तिओक) में, एपिरसमें, मिस्रमें, सिरीनमें—पशु-मानवोंकी चिकित्साके लिए औष-धियाँ लगवायीं। शत्रुओंने दाँतोंतले उँगली दबा ली। सिकन्दर आग और तलवार लिये भारत आया था। अशोकने दूत औषधि और शान्तिकी अमरबेलि लिये मकदूनियामें घुसे। पच्छिमने संहारके साधनोंसे भारतको प्रनष्ट करना चाहा था, अशोकने उसी पच्छिमको जीवनके अमर साधनोंसे भेंटा।

तथागतका यश देश-देशमें फैल चुका था, अशोकके भ्रातृ-सन्देशने दूरकी जनतामें विवेक और प्रेमकी साँस फूँकी थी। तीसरी संगीतिके धर्म-दूतोंने एशियाके कोने-कोने तक परुषको मृदुलसे, घृणाको प्रेमसे, क्रोधको क्षमासे जीता था। अशोक दूर उस मगधके हृदय पाटलिपुत्रमें अभितृप्तिकी

साँस लेता था जिसके आतंकने ब्यासके किनारे सिकन्दरकी राह रोक दी थी, जिसके डरसे ग्रीक वाहिनीने वहाँ हथियार डाल दिये थे।

परन्तु वह पाटलिपुत्र अब नन्दोंके आतंकका केन्द्र न था। उससे अब उस प्रशान्त शीतल कौमुदीकी आशा छिटकती थी जिसके स्पर्शसे चराचर शान्ति और सन्तोष लाभ करता था। अशोक वृद्धावस्थामें था। उसके अद्भुत कर्म उसकी कीर्ति दिगन्तमें फैला रहे थे, उसके अभिलेख शिलाओं, स्तम्भों द्वारा उसका नाम अमर कर रहे थे। उसका 'विजित' बड़ा था। उसका यश उसमें न समा सकनेवाला, उससे भी बड़ा था, और जब वह अपने जीवनकी विगत मंज़िलोंको मुड़कर देखता तब सुनहले प्रकाशकी लीक-सी उसे दीखती जिसमें एक धब्बा न होता, शर्मकी एक स्याह लकीर न होती। सन्तोषसे अशोककी छाती फूल उठती।

देशमें महान्, विदेशमें महत्तर अशोककी आज्ञा अनुल्लंघनीय थी। भला कौन उसकी भावनाओंको टोक सकता? कौन उसके संकेतका अपमान करता? युद्धोंकी मारी मानवताका पंजर फिर भर गया था, चोटसे विकल मानवोंके व्रण भरे जा रहे थे। पृथ्वी ऐसे स्वामीको पाकर राजन्वती हुई थी। फिर कौन ऐसा अभागा था जो अशोकके आदेशोंकी उपेक्षा कर अपजसका भागी बनता?

तभी एक घटना घटी जिसने नीतिकी राहमें एक नई मंज़िल खड़ी की। पाटलिपुत्रके नये बौद्ध महाविहारको अशोकने असीमित धन दान किया। सद्धर्मके इतिहासमें यह अनुपम दान सोनेके अक्षरोंमें लिख लिया गया। सिंहल-नेपालमें, कश्मीर-उद्यानमें, तुखार-गोबीमें सर्वत्र श्रमण-चारण इस दानकी महिमा गाने लगे। महाविहारके महास्थविरने तब अशोकसे उस दानका धन माँगा। अशोकने धर्ममहामात्रकी ओर देखा, धर्ममहामात्रने सन्निधाताकी ओर। सन्निधाताकी कुञ्जियोंके गुच्छे राजनिधिकी रत्नपेटिकाएँ खोल देनेके लिए उसकी कटिमें फड़क उठे।

पर किसीने राजनिधिके द्वारपर प्रहरी नियुक्त कर दिये थे। सन्नि-धाताने देखा, प्रहरियोंके पास युवराज सम्प्रतिके आज्ञापत्र थे। सन्निधाता सहम गया। उसने कुंजियोंके गुच्छे सम्हाल लिये। इस बीच मगधके साम्राज्यमें कुछ हो गया था। महामन्त्री राधगुप्त और सम्प्रति युवराज उसके कारण थे।

युवराज सम्प्रति प्रमदवनमें चिन्ताकुल टहल रहा था, जब महामन्त्री राधगुप्त स्वयं चिन्ताकुल वहाँ पहुँचा। राधगुप्तको देखते ही सम्प्रतिने पूछा—'सुना, आर्य ?' 'सुना, युवराज', राधगुप्त बोला। 'फिर ?' 'फिर औचित्यका निर्वाह !' 'अथात् ?' 'अर्थात्, राजनिधिपर पहरा।' 'और गुरुजन, पितामह, सम्राट्के शासनका उल्लंघन-दोष ?' 'वह इस कर्तव्य-परिधिके बाहर है, युवराज ! प्रजाकी परिधि उससे बड़ी है, उसके रंजनका मान उस शासनसे कहीं व्यापक है, और मात्र तुम उसकी रक्षाके उचित साधन हो। सम्राट् कार्यविधायक मात्र हैं, निधिके स्वामी नहीं, महाविहारके प्रति उनकी श्रद्धा वैयक्तिक है, प्रजाकी निष्ठा उस दिशामें विविध है, परस्परविरोधी। दान अवैधानिक है। उसे व्यवहारत: (कानूनन) रोक सकते हो, रोक दो, राष्ट्रके हितके लिए।'

दान सम्प्रतिने रोक दिया। राजनिधिकी पेटिकाओंपर युवराजके ताले पड़ गये। सन्निधाता चुप हो रहा। महास्थविरने सम्राट्के समीप निवेदन किया। अशोकके नासापुट फड़क उठे, आँखोंसे आग बरसने लगी। वह सभाभवनसे उठकर महलके भीतर चला गया।

कुछ काल बाद समझमें आया, उसका दान शक्तिके बाहर था, उसकी चेष्टा अनधिकारीकी थी। पर शक्ति झुँझला रही थी, मनको ग्लानिसे भर रही थी। अनुल्लंघनीय शासनवाला राजा स्थितिको समझ गया, सही, पर उसके गर्वको ठेस लगी। दु:खी रहने लगा; न किसीसे बोले न चाले।

एक दिन प्रमदवनमें चुपचाप बैठा आमलक खा रहा था। अपनी

उसी शक्तिविरहित स्थितिको गुन रहा था, दान न दे सकनेसे कुख्यातिसे दवा-दबा। आँखें डबडबा आई थीं। तभी महामन्त्री राधगुप्त आ पहुँचा। सम्राट्ने उसके अभिवादनका उत्तर न दे, पूछा—'राधगुप्त, सम्राट् तुम हो या मैं?' 'सम्राट् आप हैं, देव, दूसरा कौन?' 'मुझे तो, राधगुप्त, यह खाया हुआ आधा आमलक तक इच्छानुसार किसीको दे सकनेका अधिकार नहीं!'

आँखोंमें टँगे आँसू ढुलक पड़े।

मालवोंका वह जानलेवा तीर !

संसारकी बहुत कम जातियोंने अपने देशके इतिहासपर इतना प्रभाव डाला है जितना मालवोंने भारतपर। मालव रावीके दोनों ओर पंजाबमें बसनेवाले किसान थे। भारतीय इतिहासमें उनका लोकतन्त्र जितना प्रसिद्ध हो गया है उतना शायद और किसीका नहीं। मालवोंका गण अत्यन्त प्राचीन था। चन्द्रगुप्त मौर्य और साम्राज्यवादी चाणक्यकी ध्वंस-नीतिसे क्षुब्ध होकर वे पंजाब छोड़ पूर्वी राजपूतानेकी राह दक्षिण चले। जयपुर और अलवरके इलाकोंसे होते हुए वे मध्य भारतमें अवन्ती पहुँचे, शकोंके साथ उनकी भीषण मुठभेड़ हुई। उनके गणनायक विक्रमने शकोंको अवन्तीसे निकाल विक्रम-संवत् चलाया।

वहीं बसकर मालवोंने अवन्तीको अपना मालवा नाम दिया। उन्हीं मालवोंकी यह प्राचीन कहानी है, जब मालव रावीके दोनों तटपर बसते थे, जब सारे पंजाबके गणराज्य आदर्शके लिए उनकी ओर देखते थे। मालव आज़ादीके दीवाने थे, कभी किसीके शासनमें न रहे। संसारमें उनकी-सी जाति न थी। एक हाथमें हँसिया दूसरेमें वे तलवार धारण करते थे। शान्ति और स्वतन्त्रता उनके स्वप्न और सत्य थे।

सिकन्दर ब्याससे मन मारे लौटा था, झुँझलाया हुआ। उसकी सेनाने आगे बढ़नेसे इन्कार कर दिया था और बरबस उसे लौटना पड़ा था और अब सामना जो पड़ा तो उन मालवोंसे जो ग़ज़बके लड़ाके थे, दिलेरीमें बेजोड़। उनकी वीरताकी भी देशभरमें धाक थी और जब तक सेना रावीके तटपर पहुँची उसपर मालवोंका डर छा गया था। उसने फिर सिकन्दरको कोसना शुरू किया। उसने समझा, सिकन्दर उन्हें धोखा दे रहा है। लड़ाई उसने जारी रखी है, महज मोरचा बदल दिया है।

सिकन्दरने जो देखा कि व्यासकी कहानी दुहराई जानेवाली है तो उसे बड़ी घबड़ाहट हुई, क्योंकि अब न लड़ना मौतके मुँहमें जाना था। उसने सेनाको एकत्रकर कहा, 'मेरे ऊपर दया करो और मुझे इस मुल्कसे इज़्ज़त-आबरूके साथ लौट जाने दो, भगोड़ेकी तरह भागनेको मजबूर न करो।' सेनाने जाना कि आख़िर लौटना सिकन्दरके ही नेतृत्वमें है इससे उसका निर्णय मानना ही श्रेयस्कर होगा। एक व्यक्तिकी तरह सारी सेना विजेता-के संकेतपर कार्य करनेको सन्नद्ध हो गई।

उधर मालवगणने सिकन्दरसे लड़ना निश्चय किया। क्षुद्रकोंका महान् गण उनका पड़ोसी था। मालव और क्षुद्रक एक दूसरेके प्रबल शत्रु थे, प्रकृत बैरी। पर इस समान विपद्में उन्होंने मित्रवत् आचरण करनेका निर्णय कर लिया। अपने सम्बन्धको और दृढ़ बनानेके लिए उन्होंने वह किया जो दुनियाके इतिहासमें अपना सानी नहीं रखता।

दोनों गणोंने निश्चय किया कि दोनोंके अविवाहित तरुण दोनोंकी अवि-वाहिता तरुणियोंसे विवाह कर लें जिससे पुराने झगड़े मिट जायँ, जिससे मालवोंके हर घरमें क्षुद्रकोंकी कन्या स्वामिनी हो। सम्बन्ध करते देर न लगी और घड़ियोंमें सदियोंका बैर भुला दोनों एक हो गये।

सिकन्दरके देशी-विदेशी भेदिये दोनों गणोंके भेद लेनेमें व्यस्त थे। भेदियोंकी कमी न थी। स्वयं निर्भीक लड़ाका पुरु सिकन्दरका मित्र बन गया था। उसीकी सहायता और देशद्रोहितासे विजेता कठोंको कुचल सका था। भेदियोंकी कमी न थी।

सिकन्दर टोह लेता रहा। मालव और क्षुद्रक सेनाएँ एक दूसरेसे मिलकर देशके शत्रुसे लड़नेवाली थीं। पर सिकन्दरने बड़ी होशियारीसे काम लिया। उसने ख़बर फैला दी कि अभी कुछ काल वह विश्राम करेगा। मालव और क्षुद्रक दोनों ही सेनाएँ सुस्त पड़ गईं। क्षुद्रक घर ठहरे रहे, मालव अपने खेत काटनेमें लगे। सिकन्दरने सोचा, जहाँ दोनों

मिले कि उसकी सेनाका सत्यानाश हुआ। उनको किसी तरह मिलने न दिया जाय।

चुपचाप वह मौका देखता रहा। जैसे ही क्षुद्रक शिथिल पड़े वैसे ही उसने खेतोंमें काम करते मालवोंपर भयानक हमला किया। क्षुद्रक बढ़े पर समयपर पहुँच न सके। सिकन्दरकी यही तो चाल थी, दोनोंको अलग-अलग हराना। वह निहत्थे मालवोंपर उनके खेतोंमें जा टूटा। बड़ी हत्या हुई, क्योंकि मालव युद्धसे भागना न जानते थे और नहीं भागनेका मतलब था उस नर-संहारमें प्राणोंकी आहुति। जो खेतोंमें नहीं थे उन्होंने पासके नगरमें शरण ली। गली-गलीमें युद्ध ठन गया। सब मारे गये, क्योंकि बन्दी होना उन्हें स्वीकार न था।

अगला मोर्चा ब्राह्मणोंके नगरपर पड़ा। सिकन्दरकी राह इतनी शक्तिसे शायद ही कहीं रोकी गई हो। शास्त्रका आचरण करनेवाले ब्राह्मणोंने शस्त्र धारण किया और सिकन्दरकी सेनाके साथ चलनेवाले ग्रीक दार्शनिकोंने देखा कि भारतीय पुरोहित उसी निष्ठासे तलवार भी पकड़ते हैं जिस निष्ठासे शास्त्रीय ग्रन्थ। पर उससे भी बढ़कर उन्हें अचरज तब हुआ जब उन्होंने आत्मसमर्पण करनेसे इन्कार कर दिया। बन्दी होना जो उन्हें मान्य न था तो स्वाभाविक ही स्वतन्त्रताका मँहगा मूल्य चुकाना पड़ा। प्राण देकर उन्होंने अपनी मर्यादाकी रक्षा की। सिकन्दरने अनेक बार भारतमें नारियोंको लड़ते देखा था, मस्सगमें, संगलमें, दूसरे नगरोंमें। पर वहाँ अनेक नारियाँ कैद हो गई थीं। यहाँ, मालवोंमें रीति और थी, बैरीको आत्मसमर्पण न करने की। सो लाशपर लाश गिरती गई, नरोंकी, नारियों-की, बालकोंकी। मालव सर न हुए।

सिकन्दरने तब उनके झंग और मण्टगुमरी जिलोंकी सन्धिपर खड़े प्रधान नगरपर हमला किया। ऐसा भीषण युद्ध, ग्रीकोंका भारतमें न हुआ था। सिकन्दरकी विजयोंके क्रममें कहीं इतनी जुझाऊ लड़ाई न लड़ी गई थी। नगरको जीतना असम्भव हो चला। जानपर खेलकर मालव

अपनी आज़ादीकी रक्षा कर रहे थे। ग्रीकोंका जीवन इस जीतपर ही निर्भर था, वरना लौट सकना असम्भव था, इससे वे भी जानपर खेल रहे थे। सिकन्दरके सारे सरदार दुर्गपर चढ़नेका प्रयत्न कर चुके थे पर मालवोंकी जवाँमर्दीसे सारे प्रयत्न निष्फल हुए जा रहे थे।

अब सिकन्दर स्वयं प्राचीरोंपर चढ़ा। हज़ारों तीरोंका वह लक्ष्य था। पर उसकी फ़ुर्तीने ग़ज़ब ढाया। परकोटेपर वह अकेला जा चढ़ा। फिर तो ग्रीक सेनाने भी वह दिलेरी दिखाई जो असाधारण थी। एक-एक सैनिक जानता था कि उसका जीवन नेताके जीवनपर ही निर्भर करता है, एक-एक सैनिक परकोटेपर जा चढ़ा। पर अब तक जो होना था वह हो चुका था। सिकन्दरको तीर लग चुका था। मालव गणनायकका तीर था, सर्वथा अचूक, सिकन्दरका ताँबेका वर्म छेदता छातीमें जा घुसा था।

अब लड़ाई केवल जीतके लिए नहीं, बदले और जानके पीछे लड़ी जाने लगी थी। कोई किसीपर रहम न करता, न कोई किसीसे शरण माँगता। दोनों ओरसे नर-संहार हो रहा था। ग्रीक सैनिक दुर्गके भीतर बाहर सर्वत्र सशस्त्र और निहत्थे दोनोंपर प्रहार कर रहे थे। उनके लिए नर-नारी-बालकमें कोई भेद न था।

लड़ाई चलती रही, पहरों। मालव नगर मिट गया। उस नगरमें, उस दुर्गमें एक प्राणी जीवित न बचा—न नर, न नारी, न बालक। पर सिकन्दर भी अछूता न बचा। जर्राहने बड़ी हिम्मतसे उसका तीर खींचकर घावपर मरहम लगा दिया। पर घाव वह संगीन ही न था, मरणान्तक था। सिकन्दरको बुख़ार हो आया। और कहते हैं कि कुछ काल बाद बाबुल नगरमें जब वह मरा तब अधिकतर उस मालव चोटके ही फ़ितूरसे।

सुगतकी सत्ता

१

अलारकालामका आश्रम विपुल था। ब्रह्मचारियोंकी संख्या विपुल थी। ज्ञानका घटाटोप विपुल था। पर वहाँ गौतमके प्रश्नका उत्तर न था। मानव दुखी क्यों ? तारुण्यका अन्त क्यों ? जरा क्यों ? मरण क्यों ?

चला गया भिक्षु वह आश्रम छोड़, सम्बोधीकी खोजमें।

उद्दक रामपुत्त तर्कका अकाट्य पण्डित था। उसके आश्रममें हज़ारों जिज्ञासु अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करते थे। भिक्षु भी वहाँ अपनी प्यास मेटने जा पहुँचा। बताये नियमोंके अनुसार उसने विचारोंका विश्लेषण आरम्भ किया। पर तर्कसे तर्ककी महिमा बढ़ी, गाँठपर गाँठ लगती गई। जिज्ञासा न मिटी। प्रश्न ज्योंके-त्यों बने रहे—मानव दुखी क्यों ? तारुण्यका अन्त क्यों ? जरा क्यों ? मरण क्यों ?

हज़ारों भिक्षु-ब्रह्मचारियोंका वह जनसंकुल कानन गौतमको सर्वथा सूना जान पड़ा। परम्पराका उत्तर उसके मनको न लुभा सका। चला वह सम्यक् सम्बोधीकी खोजमें। राजगिरके दखिन पहाड़ियोंकी शृङ्खला थी, उस शृङ्खलाके पार गयाका महाकान्तार था, दूर तक फैला गहन वन। गौतम चला उसी दिशामें।

गयाकी पहाड़ियाँ वह लाँघ गया। महाकान्तारके उस हिंस्र जन्तुओंसे भरे वनको उसने अपना आवास बनाया। अब उसका लक्ष्य एक ही था—तपकी साधनासे ध्येयकी प्राप्ति। आसन मार यती निरंजनाके तटपर उरुबेलाके निकट बैठा। अन्नका त्याग, आहारका त्याग, काल पर्यन्त जलका त्याग—घोर तपका जीवन उसने अपनाया। काया ढह चली।

रागकी परिधियाँ संकुचित हुईं। इन्द्रियाँ अपने विषयोंकी दिशासे मुड़कर अन्तर्मुखी हुईं। चेतना संज्ञा खो बैठी। विवेक, सत्-असत्का ज्ञान जाता रहा।

पेट पीठसे जा लगा। शरीरकी त्वचा हड्डियोंसे झूल गई। यतीने उफ् नहीं की। पर उसके प्रश्नोंका उत्तर फिर भी न मिला। और चेतना पंगु हो चली। सदसत्का विवेक जब जाता रहा तब सम्बोधीका जटिल मार्ग कैसे सुलभ होगा? प्रज्ञा किस प्रकार सत्यका दर्शन संज्ञाके अभावमें करेगी—यती न समझ सका।

एक दिन तपसे क्लान्त जरजरदेह यती निरंजनाकी बालुकामें म्लानमना बैठा था, सर्वथा विमन। प्रयाससे थका जीवनसे हारा, निराश। तभी गाँवकी दिशासे कुछ हलचल-सी सुन पड़ी। यतीने जाना कि यद्यपि इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो चली है, अभी सर्वथा मरी नहीं, क्योंकि कान अभी सुन लेते हैं, चित्त अभी अपनी वृत्तियोंकी ओर झुक पड़ता है। अभी सर्वथा निराशाका स्थान नहीं।

गाँवसे आती हुई आवाज़ अनेक प्राणियोंकी थी, मधुर गीत-वाद्यकी, कुछ देर बाद ध्वनि स्पष्ट हुई। गौतमने नेत्र खोल दिये, कान कबके खुले थे। देखा—उरविल्वकी नर्तकियाँ मार्गमें नाचती जा रही हैं। उनकी मुद्राएँ अभिराम उठती गिरती हैं। उसने सुना, उनके गायनका स्वर—वीणाके तारोंको बहुत न खींचो, नहीं तो वे टूट जायँगे, और देखो, उन्हें बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे।

ऐं! गौतमका रोम-रोम जैसे उस ध्वनिको पीने लगा—वीणाके तारोंको बहुत न खींचो, नहीं वे टूट जायँगे, और देखो उन्हें बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे।

प्रकाशकी लपट-सी मनमें उठी सारा तम छँट गया। अन्तर आलोकित हो उठा। अत्यन्त विलास अत्यन्त तपके बीचका मार्ग सूझ गया।

मध्यम मार्ग मज्झिम पटिपदा—न अत्यन्त विलासका न अत्यन्त क्लेशका। मानस थिरक उठा।

तपकी तपनसे जला, यम-नियमसे कातर शरीर फिर सत्यके स्पर्शसे जी उठा। निरञ्जनाकी क्षीण धारामें उसने वर्षोंका बटुरा मल शरीरसे धो डाला। अकिंचन काया अब स्निग्ध सत्यके प्रकाशसे चमक उठी थी। वृक्षके नीचे प्रसन्न बदन भिक्षु कायिक यातनासे मुक्त सन्तुष्ट बैठा। सुजाता उसकी देव चेष्टासे आकृष्ट हुई। पायसका थाल उसके सामने रख दिया। यतीने देवताओंका वह मधुर आहार लिया। तृप्त कायामें चित्तकी प्रकृत चेष्टा लौट आयी। उस बेलाकी नर्तकियोंका स्वर-संकेत बार-बार कानोंमें गूँजने लगा—वीणाके तारोंको बहुत न खींचो नहीं वे टूट जायँगे, और देखो, उन्हें बहुत ढीला भी न करो, नहीं वे न बजेंगे।

२

चला जा रहा था महाभिक्षु राजमार्ग पर। गड़रिया अपने ढोर उसी राह राजद्वारकी ओर हाँके लिये जा रहा था, बकरे, भेड़ें। भेड़ोंका चलना विशेष प्रकारका होता है। झुके सिर, मुँदी-मुँदी सी आँखें, सिर अगली भेड़ोंके शरीरमें धँसे हुए, शरीर एकमें एक, सारी भीड़ एक जिस्म। देर तक भेड़ोंका चलना देखा जा सकता है। भिक्षु भी देखता रहा। उसे उसी ओर जाना था जिससे वह देखना स्वाभाविक सा हो गया था। कुतूहलके साथ चुपचाप वह उन्हें देखता जा रहा था।

अचानक एक बार आँखें एक ओर टिक गईं। पहले भ्रम-सा हुआ, फिर देखा। ना, वह भ्रम न था। एक मेमना उस भीड़में लँगड़ा-लँगड़ाकर चल रहा था। भेड़ोंकी भीड़ उसे घसीटे लिये जा रही थी, पर भीड़का सहारा भी देर तक उसे न ले जा सका। पैरमें शायद कुछ कष्ट था, रह-रहकर मेमना दर्दकी ध्वनिसे कराह उठता। धीरे ही धीरे वह अगली कतारोंसे पिछलीमें आया और अब और पीछे, और पीछे छूट चला, गड़-

रिया उसे अपने डण्डेसे खोदता, मारता, पर उसकी चाल तेज न हो पाती। वह रह-रहकर चीख उठता।

भिक्षुसे अब न रहा गया। आगे बढ़कर उसने उसे उठा लिया, बोला—"गड़रिये, तू चल। इधर ही मैं भी चल रहा हूँ, इसे उठाये चलूँगा।"

"अच्छा भन्ते," गड़रियेने कहा, "पर भेड़ें तो ऐसे चलती ही हैं। उनके कभी काँटे लगते हैं, कभी चोट लगती है फिर वे ठीक भी हो जाती हैं।"

पर भिक्षु कुछ बोला नहीं। प्यारसे कुछ क्षण वह मेमनेको निहारता रहा। फिर वह उसे कन्धेपर रख गड़रियेके साथ चल पड़ा। उसे लगा एक स्थलपर सहलानेसे मेमनेका कराहना बन्द हो जाता है। भिक्षु उस स्थानपर सहलाता चला। उसके नेत्रोंमें समवेदनाके आँसू उमड़ आये।

गड़रिया रह-रहकर भिक्षुकी ओर देखता, कुछ मुसकराता, और चल पड़ता। भिक्षुमें ग़ज़बका आकर्षण था, ऊँचा दिव्य शरीर, उन्नत मस्तक, अभिराम दर्शन। दर्शकका सिर अपने आप उसके सामने झुक जाता। पर निश्चय गड़रियाकी चेष्टा इतनी श्रद्धाकी न थी जितनी विनोदकी थी। भिक्षुने उसकी चेष्टा देख पूछा—"क्यों गृहस्थ, मेमनेके दुःखसे द्रवित होना क्या विनोदकी वस्तु है?" "नहीं भन्ते", गड़रिया तुरन्त बोला, "उसमें विनोद या विस्मयकी कुछ बात नहीं। मैं तो केवल यह सोच रहा था कि जिसे मेमनेका लँगड़ाना देखकर इतनी दया उमड़ पड़ती है उसे उसका निधन कैसे सह्य हो सकेगा और एकका भी नहीं, इतनी भेड़ोंका, इतने बकरोंका?"

"मतलब?" भिक्षुने पूछा।

"मतलब कि पशु ये बलिदानके हैं" गड़रिया बोला। "महाराज अजातशत्रु प्रायश्चित्तके लिए महासत्र कर रहे हैं, एक लाख पशुओंकी बलि

होगी। ये सारे भेड़-बकरे वहीं लिये जा रहा हूँ जहाँ चारों दिशाओंसे पशु हाँके जा रहे हैं। थोड़ी देरमें ये सभी जीव देवताओंकी पूजामें चढ़ जायँगे, सभी भेड़े, सभी बकरे, वह मेमना भी।"

भिक्षुने कुछ उत्तर नहीं दिया। चुपचाप सुनता-सा भेड़ोंके पीछे-पीछे चलता रहा। जाना उसे कहीं और था, अब वह उसे भूल अजातशत्रुके महासत्रकी ओर चला। अजातशत्रु और उसके पिता बिम्बिसार दोनों तथागतके जाने हुए थे। पुत्रने पिताको कष्ट देकर मार डाला था। उसी पापका वह आज प्रायश्चित्त कर रहा था, इस महासत्र द्वारा।

तथागतने यज्ञके प्रांगणमें जाकर देखा, हज़ारों पशु यूपोंसे बँधे हुए हैं। दीक्षित राजा पीताम्बर पहने यज्ञशालामें बैठा है। तथागतको देखते ही वह उठ खड़ा हुआ। आशीर्वचन बोल तथागतने पूछा, "यह पशु-समारोह कैसा, राजन् ?"

सिर झुकाये राजा बोला—"पापका शमन प्रायश्चित्तसे होता है, तथागत। उसी प्रायश्चित्तका अनुष्ठान अनन्त बलिदानसे कर रहा हूँ, भन्ते।"

"फिर सुगतकी ही बलि क्यों नहीं देते ?" तथागत बोले। "सम्यक् सम्बुद्ध वहाँ पहुँचकर धर्मराजके सामने तुम्हारे पक्षमें कुछ बोल भी सकेगा, ये निरीह अजिह्वा पशु भला क्या कर सकेंगे ?"

अजातशत्रु चुप था। महायात्रीकी दया उससे छिपी न थी।

तथागतने भूमिपर पड़ा एक तिनका उठा लिया। राजाकी ओर उसे फेंक उसने कहा, "राजन्, इस तिनकेको तनिक तोड़ो तो।"

राजाने कुतूहलपूर्वक तथागतकी ओर एक बार देखा फिर चुटकीके कम्पनमात्रसे तिनकेके दो खण्ड कर दिये। फिर जो भिक्षुकी ओर उसने अर्थके लिए देखा तो भिक्षु बोला—"अब तनिक इन टुकड़ोंको जोड़कर पूर्ववत् तो कर दो।"

राजा हतप्रभ चुपचाप तथागतकी ओर देखता रहा।

तथागत बोले—"राजन्, जो मृत तिनकेके टुकड़ोंको नहीं जोड़ सकता उसे जीवित हज़ार पशुओंका सन्धि-विच्छेद कर बलि देनेका क्या अधिकार है ? यज्ञ बन्द करो। प्रायश्चित्त मनका संस्कार है। आर्य सत्योंको जानो, अष्टांगिक मार्गका आचरण करो।"

यज्ञ बन्द हो गया यूपोंसे बँधे पशु स्वतन्त्र हो गये।

३

कोसलके राजमें अंगुलिमाल डाकूका आतंक छा गया था। राजा प्रसेनजित् सब जतन करके हार गया था पर डाकू सर न हो सका। उसका अत्याचार बन्द न हुआ। राज्य उजड़ चला। अंगुलिमाल वनसे अपने आततायी साथियोंके साथ निकलता और नगरोंको लूट लेता, गाँवोंको उजाड़ डालता। फिर चुपचाप श्रावस्तीके महावनमें जा छिपता। स्वयं राजधानी चौबीस घण्टे सन्त्रस्त रहने लगी। किसीका जीवन खतरेसे खाली न था। वनकी ओर तो कोई भूलकर भी न जाता, जाने भी न पाता। राजाने उस मार्गपर पहरा बैठा दिया था क्योंकि अंगुलिमाल अनेक हत्याएँ कर चुका था, करता जा रहा था। उसने हज़ार हत्याएँ करनेका प्रण कर लिया था। जब किसीकी वह हत्या करता, स्मरणके लिए उसकी एक अंगुली काटकर गलेकी मालामें गूँथ लेता। अंगुलियोंकी एक भयानक माला ही बन गई थी। इसीसे डाकूका नाम ही अंगुलिमाल पड़ गया था।

संघके साथ जब बुद्ध श्रावस्ती जाकर ठहरे तब राजाने उनसे अंगुलिमालके भयानक उत्पात और प्रजाके अमित कष्टकी बात कही। बुद्धने कुछ उत्तर नहीं दिया पर दूसरे दिन वे वनके मार्गकी ओर चल पड़े। वनके निकट पहुँचनेपर प्रहरीने उनकी राह रोकी। कहा, "तथागत, उधर विकराल अंगुलिमालका निवास है। वनका मार्ग छोड़कर पधारें।"

तथागत हँसे, चुपचाप अपने मार्गपर बढ़ते चले गये। अमनुजकर्मा तथागतकी शक्तिपर भला प्रहरीको कैसे सन्देह होता, उसने राह छोड़ दी।

तथागत घने वनके अन्तरालमें जा घुसे। कुछ घण्टे चलनेके बाद एकाएक किसीने पुकारा—"ठहर जा!"

तथागत ठहरे नहीं। तरु-लताओंके बीच हाथसे राह बनाते चुपचाप चलते रहे। फिर जोरसे दारुण पुकार सुन पड़ी—"ठहर जा!"

तथागत ठहर गये। जिस दिशासे आवाज़ आई थी उधर देखने लगे। क्षण भरमें भीषण साथियोंसे घिरा धनुष-वाण लिये अंगुलियोंकी माला पहने क्रूरदर्शन अंगुलिमाल सामने आ खड़ा हुआ। पर जो तथागतकी प्रशान्त मुद्रा और मुखमण्डलपर खेलती मुसकान उसने देखी तो उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

"मेरी आवाज़से तो चराचर काँपकर ठहर जाता है। तुम कौन हो जो नहीं ठहरे?" उसने पूछा, साथ ही अंगुलियोंकी माला भी तनिक ऊपर उछाल दी।

"मैं तो कबका ठहर गया, अंगुलिमाल, तभी जब सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की। पर भला तू कब ठहरेगा, यह तो बता? कब इस क्रूर कृत्यसे विरत होगा, कब आवागमनसे विराम लेगा?"

बुद्धके निर्भीक स्वरमें अद्भुत शान्ति थी, अद्भुत स्नेह था, अमित आत्मीयता थी। अंगुलिमालने तथागतका नाम कितनी ही बार सुना था, आज उसने उनके प्रकाशपुञ्जको देखा। उनके तेजोमय मुखमण्डलको वह देर तक निहारता रहा। फिर उसने हाथके धनुष-बाण फेंक दिये, तरकश फेंक दी, कटिकी कटार फेंक दी, गलेकी अंगुलियोंकी माला फेंक दी, और तथागतके चरणोंमें लोट वह बोला—"भन्ते, स्थान दो चरणोंमें। अंगुलिमाल क्रूरकर्मसे विरत प्रव्रज्या माँग रहा है।"

तथागतने अंगुलिमालको तत्काल प्रव्रज्या दी। कोसलके राज्यको डाकुओंके उपद्रवसे मुक्ति मिली।

जब नन्दने मण्डनका मूल्य चुकाया !

तब संघ कपिलवस्तुमें ठहरा था। बुद्ध भिक्षाटनके लिए निकले। तपाये सोनेकेसे जिस्मपर जोगिया त्रिचीवर खूब फबता था। नीचे अधो-वस्त्र, ऊपर उत्तरासंग, सबसे ऊपर संघाटी। ऊँची अभिराम काया कि देखकर गजराज राह छोड़ दे, देखनेवालेके मस्तक अनायास झुक जायँ। अमिताभ चेष्टा, चाल धीमी, चाप भारी तृष्णा-वासनाको जैसे कुचलती हुई, विपुल नयन नीचे।

आज तथागत कहीं और न रुके, चुपचाप भाईकी देहलीपर जा पहुँचे। नन्द सौतेला भाई था, तथागतका अन्यतम भक्त, अनुरागका पुंज, शील-सौहार्दका अनुपम प्रतीक, नकुलको लजानेवाले अभिराम कलेवरका निर-भिमानी तरुण। मधुर मदिर गायक, स्निग्ध उद्वीणनमें पारंगत, रेखावर्णका धनी अभिजात कलावन्त।

सिद्धार्थके महाभिनिष्क्रमणके बाद राजा शुद्धोदनके बस दो ही आसरे थे—नन्द और राहुल। राहुल दूरकी तृष्णा था, बालक, यशोधराकी एक-मात्र आशा, बुद्धकी अकेली यादगार। नन्द शुद्धोदनके कार्योंमें सभी प्रकार हाथ बटाता, संथागारमें, महलोंमें, वनोंमें। बुद्धके जानेके बाद राजाका अनुराग इसी नन्दपर केन्द्रित हो गया था।

सुन्दरी उसी नन्दकी विवाहिता थी, अभी हालकी विवाहिता। कविकी निजूठी कल्पना-सी कोमल, कमल-सी अभिराम, हिम-धवल उसकी आभा, दर्पण-स्निग्ध कान्ति। उभरी कोयोंको ढकनेवाली लंबी-भारी पलकें जब उठतीं श्वेत श्याम सागर लहरा उठता, जब गिरतीं कपूरकी डलीपर जैसे दूजका काला चाँद खिंच जाता।

दोनोंकी हृद्गति साथ चलती। दोनों साथ उठते-बैठते, साथ चलते-फिरते, सोते-जागते, खाते-पीते। उनका भाव-बन्धन-स्नेह अखण्ड था। और जगत् जैसे उन्हींके लिए बना था। उन्हींके लिए जागता था। दास-दासियाँ, भृत्य-अनुचर उनकी अहर्निश सेवा कर धन्य मानते। उनके कृपा-कटाक्ष मात्रसे उपकृत हो जाते।

नौकर मण्डनकी अनन्त विभूतियाँ, शृंगारकी अटूट परम्परा प्रस्तुत करनेमें लगे रहते। विविध वर्णों और गन्धोंके फेनक,. हल्की-तीखी मादक सुरभि, कायाको कान्त और स्निग्ध बनानेवाले अनेकानेक अंगराग, विविध शीतोष्ण अनुलेप, चन्दन-उशीरके उबटन, परागवसे चूर्ण, आलक्तक और गन्धबसी मादक मदिरा अनुचर नित्य प्रस्तुत करते, इन्द्रका प्रासाद लजा जाता।

कादम्बरीके सेवनसे प्रियाकी कान्ति जब रक्ताभ द्युतिमती हो उठती, मदिर गायक नन्द तब तन्त्री उठा लेता। जैसे-जैसे उसका राग पसरता, नारीका कोमलांग बिकल हो उठता, उसका पुलकित गात सिहर उठता। वह अपने कण्टकित बाहुओंको अपने-ही-आप धीरे-धीरे सहलाने लगती। रागकी लहरियाँ उठतीं और नील अधरमें विलीन हो जातीं। और अभी जीवनका यह आरम्भ था, प्रणयका प्रभात।

तथागत जब आये, नन्द सुन्दरीका मण्डन कर रहा था। स्नानान्तर धूप और अगुरुके धुएँसे उसने उसके केश सुखाये, फिर उन्हें अभिमत वसे तेलसे स्निग्ध किया। चन्दनके स्पर्शसे अंगांग शीतल हो गये, गमक उठे। होठोंको आलक्तकके स्पर्शसे लाल कर उसने उनपर लोध्रचूर्ण छिड़क दिये जिससे उनकी आभा पांडुर हो गई। केशोंको एकत्र कर जब नन्दने उन्हें एक गुच्छमें पीछे बाँधा तब उसे सन्तोष न हुआ, उसने उन्हें झटकेसे खोल दिया। फिर उनकी अनेक वेणियाँ बना उनमें लाल-पीले कुसुम डाले और उन्हें पीछे एकके ऊपर एक सजा छत्राकार गुंजलकके रूपमें प्रस्तुत किया।

सीमन्त और केशतटको आकर्ण निर्मल कान्तिके मोतियोंसे सजा दिया। कान नीलमणिके मकराकृत कुण्डलोंसे दमक उठे।

वैदूर्य-पात्रोंमें रखे चन्दन-कालेयक-केसरके लेपकी ओर फिर नन्द झुका। सुन्दरी पतिके प्रयासका फल दर्पणमें देख अघा गई। जब उसने उसे पात्रोंमें शलाकासे लेप फेटते देखा तब वह रजत-पीठ पर जा बैठी। नन्द भद्रपीठ पर बैठ उसके कपोलोंपर पत्रलेख करने लगा। श्वेत-रक्तिम हल्के-गाढ़े रंग शलाकाके घुमाते ही खिल उठे। पहले उसने ललाटके मध्य-नीचे नन्हीं-नन्हीं केसरकी बिन्दियोंका वृत्त बनाया और उनके बीच केन्द्र-विन्दु श्वेत चन्दनका लिख 'भक्ति'की सुघराई देखनेको जब उसने प्रियाका चिबुक उठाया तब सुन्दरीके हाथोंका दबाव नन्दके कन्धोंपर पड़ा। प्रकृति और कलाकी उस सृजन-सीमाको सामने देख नन्दका अन्तरंग- बहिरंग नाच उठा। प्रियाके होंठ उसने निःशब्द चूम लिये।

फिर नन्द शेष-सम्पादनकी ओर झुका। चिबुकके कन्दर्प गर्तमें अञ्जन-की उसने बिन्दी डाली। काली बिन्दी धवल पृष्ठभूमिपर चमक उठी। बकुलकी फूटी कंछियोंकी भाँति फिर उसने दोनों ओर भरे कपोलोंपर नयन-कोरों तक दो टहनियाँ लिख दीं। फिर उनसे चन्दनकी और नन्हीं टहनियाँ फूटीं जिनपर लाल नन्हें फूल खिल उठे। दोनोंके तन रह-रहकर कंटकित होने लगे।

पर ठीक तभी जब तूलिका केसरके पात्रसे नन्दने उठाई ही थी कि वातायनमें उसकी दृष्टि गयी। तथागतका उन्नत शरीर दृष्टि-पथमें आ अँटका। तथागत शान्त-गम्भीर मुद्रासे नेत्र नीचे किये लम्बे डग भरते चुपचाप चले जा रहे थे, भिक्षापात्र रिक्त था। नन्दकी सारी चेष्टा सहसा कुण्ठित हो गई। तूलिका शिथिल पकड़से छूट फ़र्शपर गिर पड़ी। सुन्दरी पतिकी अप्रत्याशित भावभंगी देख घबड़ा कर खड़ी हो गयी। पूछा, "उद्वेग कैसा, आर्यपुत्र ?" फिर जो खिड़कीकी ओर दृष्टि गयी तो उसने तथागतको रिक्तपात्र जाते देखा।

सुन्दरीके अनुराग-बन्ध भी शिथिल हो गये। तथागत द्वारपर आये, देहलीमें भिक्षापात्र बढ़ा गृहस्थको करणीय उपदेश कहा। पर किसीने उनपर ध्यान न दिया। गृहका स्वामी प्रेयसी-पत्नीके शृंगार-मण्डनमें रत था, दास-दासी उनके विलासार्थ अंगराग-अनुलेप, मंडनादिके विविध उपकरण प्रस्तुत करनेमें व्यस्त थे। कौन सुनता ?

धीर-गम्भीर स्मित हास्यके धनी बुद्ध चुपचाप चले गये। रिक्तहस्त भूखे तथागतको अपनी देहलीसे लौटते देख भाईका अन्तर आकुल हो उठा। नन्द और सुन्दरीकी आँखें चार हुईं, चारोंमें नीर भरा था।

नन्दने कहा—"सुन्दरि, आज तथागतके भिक्षाका दिन था !"

नन्दके स्वरमें मथी व्यथा थी।

सुन्दरीका मण्डन अपूर्ण था, उसमें विघ्न होना अशुभका परिचायक था, सौभाग्यकी चिन्ता मण्डित सौन्दर्य पर सर्पवत् कुण्डली मार बैठी। तथागतकी अवमाननाका कारण फिर अपने आपको जान ग्लानि हुई। नन्दका विशेष उत्तर न देकर उसने केवल धीरेसे पूछा—"फिर ?" शंकित स्वर उसके भयका परिचायक था।

नन्दने सुन्दरीकी सकारण शिथिलता देखी। उसके दोनों कन्धोंको पकड़े आतुरस्वर वह बोला—"जाने दो मुझे क्षण भरको, प्रिये, जाना ही होगा। तथागतको मना कर निमिषमें अभी लौटा आता हूँ। मण्डनमें यह विघ्न क्षमा करो।"

"जाओ, प्रिय, राग-रंजनसे भिन्न हैं तथागतके वे दिव्य चरण। उन्हें लौटा लाओ। पर देखो, इसके पहले कि मेरे कपोलोंके गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना।" स्वर-राग शिथिल था, संकोचविह्वल। अघटित अशुभकी आशंकाको दबाती याचना स्वरकी राह फूट पड़ी थी।

प्रकोष्ठसे उतरते हुए दोनोंके अपराधी जैसे नन्दने जब सुन्दरीकी ओर देखा, उसका अन्तर विलख उठा, गलीसे बार-बार मुड़कर उसने प्रियाके सुलगते अन्तरको देखा। फफकते-बिलखाते अन्तरको दबाये सुन्दरी नन्दको

देखती रही। व्यथित काया निस्पन्द थी, रोम-रोममें याचना थी। आँखों-में बड़ी-बड़ी बूँदें टँगी ही टँगी सूख गईं।

नन्दने अनुनय की। तथागतने हँस दिया। उसके कन्धेपर प्यारसे हाथ रखा, हाथमें भिक्षापात्र पकड़ा दिया। संघसे निवासकी ओर बढ़ चले। आकुलअन्तर नन्द भिक्षापात्र लिये चुपचाप पीछे-पीछे चला। आकुल था कि तथागत आज निराहार रहे।

उधर हृदय मथा जाता था। टीस उठ रही थी। सुन्दरीको श्रृंगारके बीच ही छोड़ आया था। उसने कहा था—"इसके पहले कि मेरे कपोलों के गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना।" पर वह लौटे कैसे? भिक्षा-पात्र तथागतके हाथमें देनेकी दुःशीलता कैसे करे? विलासरत वह उपेक्षाका घृणित अपराध पहले ही कर चुका था। चुपचाप अवसरकी आशामें बुद्धके पीछे वह चलता गया। पर अवसर हाथ आया नहीं। वह बार-बार कुछ कहना चाहता, बार-बार तथागत उसकी बात मुँहसे निकलनेके पहले ही कुछ पूछ बैठते, बात बदल जाती। भीतरकी बात भीतर ही रह जाती। नन्द विकल हो उठता।

अन्तरको यत्नसे समेट साहस कर नन्द फिर कुछ कहना चाहता, तथागत प्रणाम करने वाले लोगोंसे आशीर्वचन कहने लगते, क्षेम पूछने लगते। राजमार्ग छूट गया, बीथियाँ चुक गईं, कालके क्षण दीर्घ होते हुए भी सत्वर निकलते गये, पर बुद्धको नन्दकी बात सुननेका समय नहीं मिला। नन्द अपनी बात कह नहीं सका। सुन्दरीके क्षण कल्पवत् बीतते रहे। मण्डन उसका उपहास कर उठा।

तथागत नगरसे बाहर हो गये। नन्द भिक्षापात्र लिये उनकी छायाकी भाँति चुपचाप पीछे-पीछे चला, कुछ गुनता, सुन्न। और वे दोनों अब अकेले भी न थे। जनसमूह तथागतके पीछे चल रहा था। यही उनके उपदेश का समय था। संघ स्वयं शाक्यसिंहकी प्रतीक्षामें था। असंख्य नर-नारी निकट-दूरके गाँवोंसे आये हुए थे, कपिलवस्तुके नागरिकोंसे संघस्थली भरी थी।

तथागत नन्दपर स्मित दृष्टि डाल उपदेश-वेदीपर जा बैठे। जन-हिताय उनकी वाणी सस्वर हुई। पहला पहर बीत गया। नन्द भिक्षा-पात्र लिये उद्विग्न उन्मन खड़ा था। तथागतके मंगल-वचन उसके कर्ण-कुहरोंको न बेध सके। उनमें सुन्दरीका अनहद नाद भरा था—"इसके पहले कि मेरे कपोलोंके गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना !"

तथागत उठे, नित्यके कार्यमें लगे। नन्दसे मिलनेका उन्हें अवसर न मिला। सुन्दरी प्रकोष्ठमें खड़ी अब भी खिड़कीकी राह देख रही थी। शृंगारके फूल उसने मसल डाले, सीमन्त-केशतटके मोती उसने बिखेर दिये, मण्डनके भक्ति-विशेषक (पत्रलेख) उसने शक्ति भर पोंछ दिये। नन्दकी बिलखती आँखें उसकी आँखोंमें गड़ी चुभती रहीं, पर नन्द नहीं आया।

नन्दको तथागतने बरबस काषाय चीवर दे दिये थे। व्याकुल नन्द आचार के लाजसे तथागतकी उपेक्षा न करता, पर तथागत उसका इष्ट जान कर भी उसकी उपेक्षा करते गये। उसका विलासकी ओर लौटना उन्हें अभीष्ट न था।

दिन बीते, सप्ताह बीते, माह बीते। निदाघकी आग चराचरको झुलस गई, पावसके मेघ बिलख-बिलख रोये, शरत्का निर्मल आकाश व्यंग हँसा, हेमन्तने कमल-वनको उपल मारे, शिशिरके उघरे-नंगे तरु-लताओंपर कामुक वसन्तने पल्लव-फूलोंके वितान-ताने, पर नन्द न लौटा।

रोम-रोम उसका शिथिल था। उसके अंतरंगका कण-कण क्रन्दन कर रहा था। धीरे-धीरे प्रकृतिके उपकरण उसके लिए सारहीन हो गये। दृश्य जगत् उसे निरर्थक लगने लगा। धीरे-ही-धीरे उसकी कान्ति निष्प्रभ हो चली, चेष्टा भावहीन, मानस निरीह। सुन्दरीकी स्मृति उसे हज़ार संकेतोंसे बुलाती पर नन्द जड़वत् पड़ा रहा। जब तब उसे सुन पड़ता—"इसके पहले कि मेरे कपोलोंके गीले आलेख सूख जायँ, लौट आना !"

यशोधराका कबका सूना पड़ोस भी सुन्दरीके क्रन्दनसे नये स्वरसे बिलख उठा, पर नन्द न लौटा, न लौटा।

मुग़लिया दस्तरख़ान और शेर !

बापकी जागीरपर दूसरी माँके दाँत लगे थे और मासूम नौजवान बीरानोंमें भटक रहा था। आज जौनपुरके दरबारमें नौकरी कर ली, कल क़ुरान नकल कर लिया, परसों तलवारका हाथ मार शेरका काम तमाम किया। पर मक़सद उसका नौकरी न था, न क़ुरान नकल करना, न शेर मारना। लोहानियोंसे उसके साझेका कोई अर्थ न था, आँखें उसकी दिल्लीके तख़्तपर लगी थीं, उस शेर ख़ांकी।

चुनारके घेरेसे वह बिजलीकी तरह निकल गया था, जौनपुरकी लड़ाईमें तलवार म्यानमें कर वह बाबरसे जा मिला था। बाबर लमहे भरमें उसे भाँप गया। लिये-लिये आगरे पहुँचा। बंगाल और बिहारमें लोधी अब भी प्रबल थे, राजमहलसे कनौज तक लोहानियोंका विकट मोर्चा था। शेर खां हर मोर्चेका मरकज़ था।

आगरेके नये खुदे तालाबोंके बीच नये लगे बगीचोंमें, राजा बिकरमाजीत कछवाहेके पुराने महलोंके सामने बाबरने सल्तनतकी पहली दावत की। दावतमें ख़ास मेहमान रूखा शेर था जिसने सिवा जंगलमें खुले दहाड़नेके न कभी मुग़लिया एख़लाक जाना, न दस्तरख़ानकी शाही न्यामतें जानीं। देहाती अफ़गान, ख़ूंख़ार भोजपुरिया, शोख़ किसान, रैयतका प्यारा शेर बाबरका बगलगीर हुआ।

बाबरकी तेज़ निगाहने उस ख़तरेको पहचान लिया था जो उसके प्यारे बेटे हुमायूँके भविष्यपर काले मेघकी तरह छा सकता था। उसे उसने कुचलकर नहीं सुलहसे सर करना चाहा। उसने सोचा, कुछ अजब नहीं जो दस्तरख़ानका याराना सुलूक मैदानकी तोपोंसे कहीं ज़्यादा कामयाब हो जाय।

दस्तरख़ानपर खानेकी अनेक किस्में चुनी गईं, एकसे बढ़कर एक। पुलावकी बेइन्तहा क़िस्में—ईरानी, नरगिसी, नूरमहली, मोती। रोटियोंके प्रकार—नानतुनक, नानगुलज़ारत, हवाई चपातियोंसे भारी शीरमाल तक; गोश्तकी अनगिनत थालियाँ, बीचमें मुर्ग़मुसल्लम; और मादकसे मादक शराबसे भरे सागर। दिनोंकी तैयारियाँ, प्लेटोंसे भापके साथ उठनेवाली कस्तूरीकी खुशबू, नज़रको बेबस कर देनेवाले ज़ायफ़रानके रंग। फलोंके बेशुमार ढेर, मिठाइयोंकी बेइन्तहा कतारें, शोरबे, रुपहले वरकोंसे दबी फ़िरनियाँ।

सुनहरी थालें, जिनकी चमक और चिकनाहटपर निगाह फिसल पड़ती थी; सैकड़ों चित्रित प्लेटें, क़ीमतीसे क़ीमती, जिन्हें दौलत और लूट मुहैया कर सकती थी, जिन्हें चीनकी अनुपम कला सिंगार सकती थी, हज़ारों रिक़ाबियाँ, बिल्लौर और पन्नेकी, लाल और नीलमकी, उन काग़ज़ी पत्थरोंकी जिनका वज़न झड़े परोंसे हल्का था, नज़र जिनके पार देख लेती थी, पैमानोंकी हज़ार-हज़ार क़िस्में जिनकी धातु नज़रसे ओझल रहे, जिनके पेय जैसे निराधार मेज़पर खड़े हों। छुरी, चम्मच और काँटे, जिनके इस्तेमालका तैमूरिया खानदानको खासा ग़रूर था। कहते हैं इनका इस्तेमाल, इनके ख़ास तरीकोंका इस्तेमाल, मुग़लोंने चीनियोंसे सीखा था, तुर्कोंको सिखाया था, तुर्कोंने यूरोपको।

और दावतका मेजबान था चीनी चंगेज़ और समरक़न्दी तैमूरकी एख़लाकी बुलन्दियोंका वारिस क़लन्दरी बाबर। और मुग़लिया एखलाकके लामिसाल पाबन्द हुमायूँके इंतज़ामकी ही यह दावत नमूना थी। मुग़ल दावतोंका दस्तूर अपना था, उसकी तमीज़ अपनी थी, रस्में अपनी थीं। मज़ाक मगर निहायत शाइस्ते, पुरलुत्फ़, जब-तब तीरकी तरह तीखे। बाबर लासानी ख़ुशख़त था, क़लमका बादशाह, इबारतके राज़का माहिर। हल्की चुटकियोंके बीच आबेहयातकी चुस्कियाँ चलतीं, प्लेटोंपर काँटे फिसलते, छुरियाँ चलतीं, पर क्या मज़ाल कि कहीं ज़रा-सी आवाज़ हो

जाय। दस्तरख़ानके रवैयेको बाबर नमाज़की निष्ठासे निबाहता। उसी दस्तरख़ानकी ओर बाबर शेरको ले चला।

शेर ख़ाँ बीचमें बैठा, उसके बायें बाबर, दायें हुमायूँ, दोनों ओर अस्करी और हन्दाल और सामने और दूर तक दोनों ओर सल्तनतके उमरा बैठे। मुग़लिया अमीरोंकी बेइन्तेहा नस्लें थीं, उनकी शान शाहोंको नसीब न थी। अमीरी खुत्तल-कम्बोजके, बल्ख़-बदख्शाँके, समरकन्द-बुख़ारा के, बामियान-ख़ुरासानके, दमिश्क-कुस्तुन्तुनियाके। बातके धनी, तलवारके चितेरे, चुप थे। एक अजीब ख़ामोशी छाई हुई थी। थी वह दावत, जशन उसका मक़सद था, पर उमरा बाबरकी वह बारीकी समझ न पाये थे जिसने शेर ख़ाँ जैसे पुरबिये किसानको, गँवार पठानको यह रौनक बख्शी थी।

उस चुप्पीमें शेरको बेइज़्ज़त करनेकी हसरत भरी थी। कहाँ मुग़लिया दस्तरख़ानका एख़लाक और तमीज़, कहाँ बिहारका वह फूहड़ मुँहफट बेडौल अफ़ग़ान, नाचीज़ लोहानियोंका नाचीज़ नौकर। कुतूहल था, कैसे खायगा? कैसे छुरी पकड़ेगा, कैसे काँटा? इनसे उसे छुआछूत कहाँ? मज़ा आ जायगा। चाहे ऐसे गँवारको शाही दावतका मेहमान बनाना अमीरोंको खल गया हो, बेशक उसकी तहज़ीब रंग लायगी, ग़ज़ब ढायगी। छुपी नजरें चुपचाप एक दूसरेसे मिल रही थीं, घमण्ड और हिकारत भरी अपनी तजवीज़ें एक दूसरेसे बदल रही थीं।

शेर चुप था। बाबर समझ रहा था कि शायद शाही शान उसके मेहमानको दबाये दे रही है, मुग़लिया अमीरोंका रोब उसपर ग़ालिब हो रहा है। मेहमानको वह सिर-आँखोंपर लिये हुए था। अमीरोंका छुटपन उसमें मुतलक़ न था। ख़ुद नाचीज़ बना हर तरहसे वह उसकी पसन्द जाननेकी कोशिश कर रहा था, इसकी भी कि शेरको वह अनजानी, तहज़ीब बोझ न हो जाय। बार बार वह ऐसी बातें कहता जिससे पठान हँसे, बोले, उससे अपनापा जाहिर करे। खाना शेरको ही शुरू करना था,

रस्मके मुताबिक, क्योंकि मेहमान वही था। इससे सब उसीकी ओर देख रहे थे। सही, ऐसा दावतका अन्दाज उसे सपनेमें भी न हुआ था। अकेला होता तो शायद परेशान हो जाता कि किस चीज़से खाना शुरू करें। उसकी तेज़ नज़रोंसे छिपा भी न रहा कि गो बाबरका सुलूक़ उसके साथ बेबनावट है, अमीरोंकी निगाहें मतलबसे ख़ाली नहीं।

बाबरने उसकी ओर देखा, फिर सामने रखे मुर्ग़-मुसल्लमकी ओर इशारा किया। शेर छिन भर चुप रहा, एक बार काँटे-छुरियोंकी चमक उसकी नजरमें कौंधी। सहसा वह हिला और उसने बगलसे खंजर खींच लिया। आँखें चमकीं, यकायक बीसियों तलवारें म्यानोंसे निकल पड़ीं। पर बाबर ख़ामोश था, गो उस ओरसे नामुख़ातिब भी न था। जानता था कि ज़रूरत पड़ी ही तो उसकी कलाईमें क़ूवत है। बगलोंमें जवान दबा क़िलेके परकोटोंपर वह दौड़ चुका है, तीस-तीस चोटमें दरियाको पार कर चुका है। अगर पठान शेर है तो वह भी आख़िर बाबर है।

पर शेर खाँको न तो बाबरके इन विचारोंका पता था, न ख़ूनकी प्यासी उन तलवारोंका जो उसके सिरपर झूल रही थीं। वह ख़ंज़रसे मुर्ग़ काट उसके टुकड़े ख़ंजरकी नोंकसे उठा-उठा ख़ामोश खाये जा रहा था। तमीज़दार अमीर आँखें फाड़-फाड़ उसे देख रहे थे।

बाबरकी नज़रसे तलवारें म्यानोंमें लौट गयीं। खाना शुरू हुआ, ख़ामोशीमें। ख़ामोशीमें ही ख़त्म भी हुआ। ग़ज़बकी मुर्दनी दावतपर छाई हुई थी जो शराबके दौरोंसे भी न टूटी, बाबरकी मुसकराहट, उसकी चुहलबाज़ियोंसे भी नहीं। उसकी चुहलके जवाबमें अमीरोंके कहकहे अस्वाभाविक लगते, उनकी खोखली आवाज़ जैसे बेमानी हो जाती।

खाना ख़त्म हुआ। अमीर शेरको ख़ुश करनेके लिए उसे घेरकर खड़े हुए, दस्तूरके मुताबिक उसे नज़रें देने लगे। बाबर तभी हुमायूँको एक ओर खींचकर कह रहा था—"बेटे, उस पठानसे होशियार रहना,

मक़सद हासिल करनेके लिए वह किसी ज़रियेको बेजा न समझेगा। कोई क़ौल, तहज़ीबकी कोई पाबन्दी उसके आड़े नहीं आ सकती!"

हुमायूँ इस सीखका भेद तब न पा सका। उसका राज़ उसने बादमें जाना जब शेरशाह पच्छुमका नाका-नाका बन्द किये बक्सरके पास चौसेमें उसे उसीके ख़ेमोंमें क़ैद कर बैठा था। हुमायूँ तबाह था—राहें बन्द थीं, रसद मिलनी दुश्वार थी फिर भी वह हिल तक न सकता था। और शेर आख़िरी उछालके लिए पूँछ पटक रहा था।

हुमायूँने आधीरात तक सरदारोंसे मशविरा किया। तय पाया कि सुलहका पैग़ाम भेजा जाय। उसे लेकर राजदूत जब शेरशाहके ख़ेमेमें गया तब सरदारोंने मजदूरोंसे भरी खाइयोंकी ओर इशारा किया। राजदूत समझ न सका पर उसने जो देखा वह यक़ीनके बाहर था—शेरशाह कमर कसे अधनंगे वदन फावड़ा चलाये जा रहा था। चाँदनीमें दूतने देखा, शेरके दमकते गोरे बदनसे पसीना चू-चूकर ज़मीनको गीला कर रहा था, और खाई बराबर चौड़ी होती जा रही थी।

सुलह हुई। हुमायूँकी सेनामें जशन होने लगे। यकायक सुबहकी गोधूलीमें तलवारें चमक उठीं—शेरने हमला किया था। हुमायूँ घोड़ेपर भागा। गंगा चढ़ी थी, पर दुश्मनकी चढ़ाई उससे ज्यादा ख़तरनाक थी। और उसने भरे दरियामें घोड़ा कुदा दिया। भिश्ती न होता तो शाहज़ादेकी ज़रा सी जान गई ही थी।

और जब बीरानोंकी ख़ाक छानता हुमायूँ ईरानकी ओर भागा जा रहा था तब उसे बापकी नसीहत बार-बार याद आ रही थी—"बेटे, उस पठानसे होशियार रहना। मक़सद हासिल करनेके लिए वह किसी ज़रियेको बेजा नहीं समझेगा। कोई क़ौल, तहज़ीबकी कोई पाबन्दी उसके आड़े नहीं आ सकती!"

जब जांनमाज़के नीचे दिल्लीका तख़्त पड़ा था !

सिन्धु, आमू, यारकन्द, ब्रह्मपुत्र—चारोंका स्रोत ज़ोरकुल झीलमें है। ज़ोरकुलपर पामीरोंका साया है। पास ही कश्मीरके उत्तर गिलगितके उतारपर कम्बोज है और पच्छिम आमूके घेरेमें वख़ाँ। आमू पंजेकी अँगुलियोंकी तरह अपनी शाखें फैलाये नीचे उतर जाती है, वक्षाब और अक्षावके द्वाब खुत्तलको पीछे छोड़ती। बायें चित्राल और हिन्दूकुश छोड़ती, बदख़्शां और बल्खकी खुशनुमा घाटियाँ सींचती, मैदानोंमें बल खाती नदी अरलके समुद्रकी ओर ढुलक जाती है।

बल्ख़ (बाख्त्री, वह्लीक) की घाटी बराबर हमलावरोंको आकृष्ट करती रही है। ग्रीक, शक, कुशान, बार-बार ईरानियों और एक दूसरेसे टकराते रहे हैं। कभी उसकी यादने फ़िरदौसीकी कलममें जादू भर दिया था; 'शाहनामा' के सफ़हे बदख़्शां-फ़रग़नाकी रौनक और दिलेरीसे भर गये थे। आमूके तीर ईरानी सूरमा रुस्तमने वहीं कभी अपने बेटे सोहराबको भालेपर तोल दिया था। वहीं सिकन्दर कभी हिन्दूकुश लाँघ दाराके भगोड़े शाहज़ादोंकी खोजमें उतर पड़ा था।

कभी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यने सिन्धुकी सातों धाराओंको पार कर कोजक अरमान पहाड़ोंको बगली दे उसी वह्लीक (बल्ख़) में हूणोंको धूल चटा दी थी, फिर उसके घोड़े जो आमू तीरकी केसरकी क्यारियोंमें आलस-से लोट पड़े तो उनके अयाल फूलोंसे लाल रँग गये थे। उसी बल्ख़-बदख़्शां के लिए बाबरने तेरह-तेरह बार तलवार तोड़ी थी। उसकी औलादने बार-

बार मार खाकर भी उधर रुख़ किया—अकबरने, जहाँगीरने, शाहजहाँने।

उसी बल्ख़में, आमू दरियाके तीर—

आमू रेंगती चली जा रही है। उसके आँचलकी क्यारियोंपर जवानी बरस रही है। केसर फूली हुई है, लाल-लाल। पर लहूसे सिंची भी है। ज़मीन इन्सानके ख़ूनसे तर है। दरियाका पानी रक्तसे रँग गया है। घाटी मारो! मारो! की आवाज़से गूँज उठी है। मैदान तड़पते घायलों और लाशोंसे पट गया है।

तीन दिनसे घमासान छिड़ा है। दिल्लीके मुग़लोंने दूरकी बपौतीपर छापा मारा है। चार पीढ़ियाँ लड़ती रही हैं, पाँचवीं दख़ल कर सकी है पर उजबक तुर्कोंको यह मंजूर नहीं कि ग़ैर उनकी ज़मीनको भोगें, उनपर हुकूमत करें। शाहजहाँने बल्ख़-बदख़्शांकी उस केसरिया ज़मीनपर कब्ज़ा कर लिया था पर उसका इक़बाल अकेला उस इलाक़ेको न सम्हाल सका। उज़बक बेगके रिसालोंने उसे मुग़लोंसे छीन लिया। शाहजहाँने कुमक भेजी। औरंगज़ेब दूर दकनसे उसे लिये आ धमका। घमासान मच गया। उजबकोंके धावे जगत्प्रसिद्ध थे। उन्होंने शाही फ़ौज़को तितर-बितर कर दिया। उसे लाज बचाना कठिन हो गया।

शाम हो चली थी। उजबकोंकी तेगें मुग़ल सेनाकी पीठपर ज़ख़्म कर रही थीं। औरंगज़ेब अपनी मुट्ठी भर हरावल लिये भयानक मार कर रहा था। उसकी दिलेरी दुश्मनोंको जीतमें भी बेताब कर रही थी। सूरजका गोला सहसा पहाड़ियोंके पीछे सरका। मग़रिबका नमाज़ सिरपर आया। औरंगज़ेब आज तीसरे पहरसे ही हाथी छोड़ घोड़ेपर आ गया था। हमलेकी चीख़-पुकार और बरसते तीरोंके बीच वह घोड़ेसे उतर पड़ा। लड़ती फ़ौजोंके बीच दुश्मनोंसे घिरी ज़मीनपर उसने जांनमाज़ बिछा लिया, वह नमाज़ अदा करने लगा।

साथी बड़ी सम्हालके साथ पीछे हट रहे थे, रणबाँकुरे राठौर और बिकट बलूची, बांके मुग़ल और बीहड़ पठान। सहसा वे रुक गये।

शाहज़ादेको घेरकर खड़े हो गये, दुश्मनके नेज़े उन्होंने अपने सीनोंपर लिये। नेज़े रुक गये, तीर तनी कमानोंपर चढ़े रह गये, सन्नाटा छा गया।

किसीने दौड़कर दुश्मन कबीलोंके सरदार बेगसे कहा। ख़ून टपकती नंगी तलवार लिये बेगने देखा और देखता रह गया। बोला—"ख़बरदार जो किसीने उसे हाथ लगाया ! चलो, छोड़ो, उसे कल जीत लेंगे। उसे नमाज़ मुबारक ! ग़ज़बकी दिलेरी है इस दीवानेमें।"

बेग रिसालोंके साथ उत्तरके धुँधलकेमें बढ़ा, आमू दरिया हैरतमें आ ज़रा ठमका फिर मैदानोंमें रेंग चला, अपनी यादें सम्हालता, जैसे कल-कल आवाज़से पूछता—यह कौन है? ऐसा तो किसीको न देखा—न रुस्तम सोहराबको, न दारा-सिकन्दरको, न शक-कुशानोंको, न बिकरमाजीत को !

शाहज़ादोंमें जंग छिड़ चुका है। दिल्लीके तख़्तपर बैठना कुछ खेल नहीं। चार-चार हैं, बैठना एकको है, और वह एक तभी उस तख़्तपर बैठेगा जब बाक़ी तीन क़ब्रमें सो चुके होंगे।

धरमातकी लड़ाई औरंगज़ेबकी कीरत जसवन्तकी पीठपर लिख चुकी है, रक्तसे लाल सिप्रामें आठ हज़ार राजपूत जलसमाधि ले चुके हैं। पर आख़िरी फ़ैसला सामूगढ़में होनेवाला है। मुग़लोंकी राजधानीमें चारों ओरसे फ़ौजें उतर पड़ी हैं, उमड़ी आ रही हैं। सल्तनत ख़तरेमें है। शाहंशाहकी औलादने उसके रूबरू देखनेकी जुर्रत की है, शेरकी मूँछका बाल किसीसे छू गया है !

बूढ़ा बीमार शाहजहाँ दिल्लीसे भागा-भागा आगरे पहुँचा। दाराके मुँहपर कालिख पुती है, राजपूतोंके मुँहपर भी। दोनों औरंगज़ेब और मुरादके ख़ूनसे उसे धोयेंगे। एक लाख सवार, बीस हज़ार पैदल, अस्सी तोपें लिये दारा आज मैदानमें उतरा है। सल्तनत और शाहजहाँकी शान, क़िस्मत और रजपूती आन सब कुछ दाँवपर है। दकन और गुजरात, दिल्ली और राजपूताना आज जूझनेपर उतारू हैं।

गरमी जवानीपर है, आगरे-सामूगढ़की गरमी, सात जूनकी। सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। एक दूसरेको घूरतीं। जवाँमर्द गरमीसे बेहाल हैं, कवचोंके भारसे दबे गरमीसे बेहोश हुए जाते हैं। घोड़े रानोंके नीचे तिल-मिला उठते हैं, जहाँ-तहाँ चुप-चाप बैठ जाते हैं, ढेर होकर, फिर नहीं उठते।

सुबहका वक़्त है, अभी तक लू चलती रही है, और अब सूरजका लाल दहकता गोला तेज़ीसे उठता आ रहा है। औरंगज़ेब व्यूह बनाता है—हरावलमें दकनकी फ़ौज लिये वह आप है, उसके दायें बाज़ू अपने गुजराती रिसालोंके साथ मुरादबख़्श और बायें बहादुर ख़ाँ। हरावलके सामने तोपख़ानेके साथ औरंगज़ेबका बेटा मुहम्मद खड़ा है।

दाराकी फ़ौजबन्दी उसका जवाब है। सामने उसकी तोपें फ़ौलादी ज़ंजीरोंसे जकड़ी हैं जिससे दुश्मनके रिसाले उनकी कतार तोड़ न दें। तोप-ख़ानेके पीछे पीतलकी हल्की तोपें लिये ऊँटोंकी कतारें हैं, उनके पीछे पैदल बन्दूककी। ख़लील-अल्लाह ख़ाँ दाहिने तोड़पर है, रुस्तम ख़ाँ बायें बाज़ू और दोनोंके बीच हरावलके मोर्चेपर ख़ुद दारा, मौतसे रार करनेवाले अपने राजपूतोंको लिये।

सहसा तोपें दग उठीं, हाथी-घोड़ोंको भड़कानेके लिए शोले फेंके जाने लगे, बन्दूकोंसे लपटें निकलने लगीं, तीर हवामें उड़ने लगे। दाराका अगला भाग उसके बेटे सिफ़िर शिकोहके ज़िम्मे था। उसने ज़ोरसे टकराकर मुहम्मदकी तोपें तितर-बितरकर दीं। साथ ही रुस्तमने धावाकर औरंगज़ेबके दाहिने बाज़ूपर चोट की। लगा कि बाज़ू चकनाचूर हो जायगा पर हरावलने घूमकर उसे सम्हाला। अब तक दोनों ओरके व्यूह टूट चुके थे। सभी सबके निशाने थे।

मेघकेसे स्याह सिंहली हाथीपर चढ़ा दारा घुड़सवारोंसे घिरा आगे बढ़ा और औरंगज़ेबपर जा टूटा। हज़ार जानोंके दामों उसने दुश्मनकी

तोपोंपर कब्ज़ा कर लिया; साँड़नी सवार और पैदल उसकी चोटसे कुचल गये। घुड़सवार घुड़सवारोंसे टकराये, जानें हथेलियोंपर नाचने लगीं। दारा बाबरकी जंगी बुलन्दियाँ रौंदने लगा, राजपूत अपनी नस्लके जौहर दिखाने लगे। तरकश ख़ाली हो गये, भाले टूट गये। तब दारा और राजपूत नेज़े और तलवार लिये शत्रुकी कतारोंमें पिल पड़े। शत्रु भागा।

औरंगज़ेब अड़ा रहा। किस्मतने, लगा, करवट ली। पर वह जमा रहा उसके रिसाले चोट खाकर पीछे हट गये थे। मुश्किलसे हज़ार घुड़सवार उसे घेरे लड़ रहे थे। बार-बार मुराद ख़बर भेज रहा था—"लौटो, भाईजान, लौट पड़ो। मैदानमें मौत उतरी है। जीत आज न सही, कल सही, पर जानको मौतके हवाले न करो!"—ख़ुद शेर-सा दहाड़ता, लड़ता। तीन हज़ार उजबकोंने उसपर एक साथ हमला किया, रुहेला राजपूतोंके बीर सरदार रामसिंहने हौदेकी रस्सी काटनेको बर्छा फेंका। मुरादने ढाल पीछे बैठे बालक बेटेपर उढ़ा दी और रामसिंहको ढेर कर दिया।

औरंगज़ेबने भाईका सन्देश सुन लिया था, पर उत्तर उसका उसने और तरह दिया। "हाथीके पैरोंमें कांटेदार जंज़ीरें डाल दो, ज़ंजीरें ज़मीनमें गाड़ दो। सामूगढ़का मैदान करबला होगा।" हाथीके पैरों कांटेदार ज़ंजीरें पड़ गईं, ज़ंजीरें ज़मीनमें गाड़ दी गईं। सूरजके घोड़े ठिठक गये।

फिर आवाज़ आई—"दिल, यारों! ख़ुदा है ख़ुदा है!" दकनी-गुजराती रिसाले साहस कर लौट पड़े। सहसा चमकता सूरज बीच आसमानसे ग़ायब हो गया। शामतका मारा दारा हाथीसे उतर फ़ौजकी नज़रोंसे ओझल हो चुका था।

फिर क्या था, भगदड़ मच गई। केवल बूँदीके राजपूत केसरिया लेबासमें रावराजा छत्रसालके पीछे औरंगज़ेबके हाथीकी ओर बढ़े जा रहे थे। पिछली रात सीकरीकी सूनी दीवारोंके सायेमें रावराजाने प्रेयसी

जहाँनाराको वचन दिया था—"शाहजहाँका सिंहासन जो खतरेमें पड़ा तो मैदानसे नहीं लौटूँगा !"

कठोर विकराल छत्रसाल चुपचाप भागते मित्रों, उमड़ते शत्रुओंके बीच औरंगज़ेबके हाथीकी ओर बढ़ा चला जा रहा था। उसके राजपूत उसी-की तरह कठोर विकराल चुपचाप घोड़े बढ़ाये दुश्मनोंमें धँसे जा रहे थे। औरंगज़ेबका हौदा तीरों और भालोंसे बिधा काँटोंभरी साही-सा दीख रहा था।

मौतकी जैसे एक धार-सी बह गई। हाथीके चारों ओर केसरिया राज-पूतोंकी लाशोंका अम्बार खड़ा था। केसर फूली ज़मीनपर खुदाका शुक्रिया अदा करने जब औरंगज़ेब खड़ा हुआ तब जांनमाज़के नीचे दिल्लीका तख़्त पड़ा था।

"तख़्तका नूर तुम हो,
मैं तो उसका चौखटा भर हूँ!"

जहाँगीरका अरमान पूरा हुआ। नूर-महल 'नूरजहाँ' बनी। तख़्तकी रौनक बढ़ी। जहाँगीरने सल्तनतकी बागडोर नूरजहाँको सौंप दी। उसके लिए एक खुराक अफ़ीम और दो प्याले शराब काफ़ी थी।

नूरजहाँने साम्राज्यकी बागडोर सम्भाली। नारीकी हुकूमतसे कुछ पेशानियोंपर बल पड़े, कुछ तेवर बदले, पर जहाँगीरकी शानमें किसीको कुछ कहने-करनेकी हिम्मत न हुई। फिर भी आग दबी-दबी सुलग रही थी, ख़ासकर बेटोंके दिलोंमें।

जहाँगीरने ज़िन्दा बापसे बग़ावत की थी। बड़ा बेटा खुसरू मचल बैठा। बापने बेटेकी पलकें सिलवा दीं। दूसरे बेटे ख़ुर्रमने बड़े भाईको दक्खिन ले जाकर मौतके घाट उतार दिया। जहाँगीरका प्यारा था तीसरा बेटा परवेज़, इसलिए कि वह बापके बराबर 'पी' सकता था। ख़ुर्रमको जहाँगीर पुचकार-पुचकार कर घूँट पीकर जी हल्का कर लेनेको कहता, पर ख़ुर्रम जामसे मुँह न लगाता। उसका-सा गम्भीर, शालीन मर्द सारी सल्तनतमें न था। नूरजहाँको सबसे छोटा बेटा शहरयार प्यारा था जिसने उसकी बेटीको ब्याहा था।

पर राजधानीमें नूरजहाँका भाई और ख़ुर्रमका ससुर वज़ीर आज़म आसफ़ख़ाँ दामादके हक़ोंका पहरुआ था। ख़ुर्रम बादमें शाहजहाँके नामसे आगरेकी गद्दीपर बैठा। पर यह तबकी बात है जब अभी वह दक्खिनका सूबेदार था। उसने बग़ावत की, पर चोट उल्टी पड़ी। वह बिहार-

बंगाल भागा और वहाँ स्वतन्त्र मालिक हो जानेकी फ़िक्रमें लगा। पर वहाँसे भी दक्खिन भागकर उसे मालिक अम्बरकी शरण लेनी पड़ी। आगरेमें बापके पास बेटोंको रख देनेपर माफ़ी मिली।

नूरजहाँने देखा कि कामयाबी मुश्किल है। अब वह सेनाके पीछे पड़ी। सेनापति महावतखाँ था। मलकाने उसे फोड़ना चाहा, पर वह अपनी जगहसे हिला तक नहीं। नूरजहाँ जल गई। उधर जब महावतख़ाँने देखा कि उसका गुस्सा उसकी जानको ख़तरेमें डाल सकता है, तब उसने नामुमकिन कर गुजरनेपर कमर बाँधी। जहाँगीर पंजाबमें था। काबुल-की बग़ावत दबानेके लिए जैसे ही वह झेलम बाँधने चला तभी महावतने हिम्मत कर उसे सहसा पकड़ लिया।

जहाँगीरके जिस्मको कोई हाथ लगाये, यह नूरजहाँको कब गवारा हो सकता था। उसने फिर तो वह किया जो मर्दके लिए भी कठिन था, जिससे उसका नाम जवाँमर्दीके इतिहासमें अमर हो गया।

शेरनीकी तरह वह दुश्मनपर पंजा मारकर कैदसे निकल गई। महावत-के सिपाही कुलाँचपर-कुलाँच मारते रहे, पर नूरजहाँ हाथ न आई। जहाँगीरकी शरीर-रक्षक सेनामें वह जा मिली। पतिके दुश्मनोंके विरुद्ध वह मुट्ठी भर शरीर-रक्षकोंको लेकर बढ़ी और हाथीपर बैठ उसका संचालन करने लगी। हाथमें उसके धनुष-बाण थे। पीठपर तरकश और गोदमें शहरयारकी नन्हीं बेटी, अपनी प्यारी नतिनी। आगसे खेल रही थी वह, पर नारी आगसे खेलनेसे कब हिचकी है?

महावतकी सेनाने ऐसा कभी न देखा था, सहम गई। उसके बाँके राजपूत लड़ाईकी इस नयी स्थितिको देख किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। आज्ञा पा नूरजहाँपर हमला करने चले फिर तो वह घटना घटी जिसे देख सूरजके रथके घोड़े चमक गये। ज़मानेने आँखें फाड़-फाड़ देखी वह लड़ाई, जिसे औरतने, खुले मैदानमें हाथीपर सवार हो हिन्दुस्तानके सबसे बड़े सिपहसालारसे लड़ी।

महावतके राजपूतोंने नदीका पुल जला दिया। पर मलका रुकनेवाली न थी। वह नदीमें कूद पड़ी, हाथीके साथ। उसकी गिनी-चुनी फ़ौज भी झेलममें कूदी, सवार, पैदल सभी। जहाँ पानी थोड़ा था वहाँ भी भीड़ देखने लायक थी। सवार-से-सवार टकरा गये, हाथीसे हाथी, पैदलसे पैदल। हाथी-घोड़ोंका जमघट हो गया। राह मिलनी कठिन हो गई। जो गिरे फिर उठ न सके, घोड़ोंके खुरोंसे कुचल गये, हाथीके पैरोंके नीचे आ गये। कुछ डूब गये, कुछ बह गये, कुछ जान बचाकर भागे।

दुश्मनका रुख़ नूरजहाँपर था। सबसे ख़ूँख्वार हमला उसीपर हुआ। राजपूत जो मिलकर भाला फेंकें तो हाथीका मस्तक पार कर दें, उसपर चढ़ दौड़े। महावत उनके आगे था। राजपूतोंने उसके हाथीको घेर लिया। उसके रक्षक उन्होंने उसीके सामने काट डाले। उसके चारों ओर गोले फट रहे थे। हौदा तीरोंसे भर गया था। एक तीर आकर गोदमें बैठी शहरयारकी बच्चीके लगा, जिसने उसे ज़ख्मी कर दिया। नूरजहाँ जानपर खेल रही थी। लड़ना जूझनेसे कम न था, पर जब-जब उम बीच जहाँगीर-की क़ैद उसे याद आती तब-तब उसका क्रोध चण्डीका रूप धारण कर लेता। वह मैदानसे हिली नहीं। ढाल उसने बच्चीके ऊपर रख दी।

दुश्मनोंने उसका महावत मार डाला। भालों और तीरोंकी चोटसे बिलबिला कर आख़िर उसका हाथी भाग चला। सामने ख़तरा देख वह सहसा फिरा और झेलममें कूद पड़ा। डूबता-उतराता वह उस पार निकल गया जहाँ नूरजहाँकी बाँदियाँ मलकाके ख़तरेको देख छाती पीट रही थीं, धाड़ें मार रही थीं। रोतीं-चीख़तीं वे दौड़ीं और लौटे ज़ख्मी हाथीको घेर कर खड़ी हो गईं। पर ज़ख्मोंसे भरी नूरजहाँको ख़ूनसे भींगी हौदेमें जो बैठा पाया तो उनके ताज्जुबका ठिकाना न रहा। नूरजहाँ इतमीनानसे बैठी चीख़ती बच्चीके जिस्मसे तीर निकाल रही थी।

पर दुश्मन सर न हुआ। बादशाह महावतख़ाँकी कैदमें पड़ा रहा। अब नूरजहाँने नीतिसे काम लेनेका निश्चय किया। साहस कर वह महावत

ख़ाँके पास पहुँची और पतिकी क़ैदमें शामिल हो गई। धीरे-धीरे बादमें उसकी नीति फल निकली। फ़ौजके अफ़सर उसकी बहादुरी, हिम्मत और बेबसीसे विजित हो गये और एक दिन जहाँगीरने सहसा अपनेको आज़ाद और फ़ौजको सामने सिर झुकाये पाया। नूरजहाँकी आँखें मुसकरा रही थीं। जहाँगीरने पूछा—"रानी, कहा नहीं था कि तख़्तका नूर तुम हो, मैं तो उसका चौखटा-भर हूँ ?"

नूरजहाँने उसके बालोंमें अपनी उँगलियाँ दौड़ा दीं। फिर तो काबुलकी मुश्किलें आसान होते ही शाही पड़ाव कश्मीरकी ऊँचाइयोंपर चढ़ चला, शालीमारके बहिश्ती बाग़में जा उतरा। सुकुमार हाथोंने फिर ऐसे गुलाबकी कलमें छाँटीं और उस झेलमकी केसरिया क्यारियाँ सम्हालीं, जिनका निचला बहाव अभी मलकाके लहूसे लाल था।

This book is good for all history student because representation of many historical events.
5/3/61